ना १

ान सम्पादक, श्री [illegible] भट्ट

डन निबन्धावलि

पुरुषोत्तमदास टण्डनके साहित्यिक, सांस्कृतिक,
ष्ट्रभाषा सम्बन्धी तथा अन्य उपयोगी
निबन्धोंका संग्रह]

संकलन : सम्पादन

ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

ष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

ा -१

न सम्पादक श्री मोहनलाल भट्ट

डन निबन्धावलि

पुरुषोत्तमदास टण्डनके साहित्यिक, सांस्कृतिक,
ष्ट्रभाषा सम्बन्धी तथा अन्य उपयोगी
निबन्धोंका संग्रह]

संकलन : सम्पादन

ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

ष्ट्रभाषा प्रचार समिति,

आमुख

※

'भारतरत्न' राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डनका राष्ट्र निर्माताओंमें अग्रगण्य स्थान है। वे स्वतन्त्र भारतके महान नेताओं और राष्ट्रभाषा हिन्दीके उन्नायक और प्रवर्तक थे। उनका त्याग, साधना, बलिदान, सत्यनिष्ठा और सरल जीवन अनुकरणीय और वन्दनीय है। वे भारतीय संस्कृतिके पुजारी, दृढ़-प्रतिज्ञ और स्वतन्त्र विचारोंके प्रतीक थे। उन्होंने अपना समस्त जीवन एक दूरदर्शी, विवेकी, संवेदनशील तथा सहृदय और वीतरागी सन्तकी भाँति व्यतीत किया। जीवनके प्रारम्भिक कालसे निधन-पर्यन्त वे संघर्षरत रहे; किन्तु अपने आदर्शों और सिद्धान्तोंके प्रति एक चट्टानकी भाँति अडिग रहकर वे कभी विचलित नहीं हुए। कष्टों, कठिनाइयों और संघर्षोंका उन्होंने बड़े साहस और दृढ़तासे सामना किया। जहाँ उनकी गणना एक ओर स्वतन्त्र भारतके एक निर्माताके रूपमें होती है, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रभाषा हिन्दीको साकार रूप देनेके निमित्त हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन जैसी अखिल भारतीय संस्थाके सफल संचालन और संवर्धनका श्रेय भी उन्हींको प्राप्त है। उनके जीवनके मुख्यतः तीन संकल्प थे—भारतीय स्वाधीनताकी प्राप्ति, हिन्दीको राष्ट्रभाषाके पदपर प्रतिष्ठित करना और भारतीय संस्कृतिका पुनरुद्धार। इन्हीं संकल्पोंको साकार रूप देनेमें टण्डनजीने अपने जीवनकी पूर्णाहुति दी और अनेक अंशोंमें वे सफल भी हुए, इसमें सन्देह नहीं।

राजर्षि टण्डनजी राजनीति क्षेत्रके एक महान योद्धा तो थे ही साथ ही भाषा, साहित्य और संस्कृतिके विशद व्याख्याकार और वक्ता भी थे। उनकी वक्तृता ओजपूर्ण, गम्भीर, सारगर्भित, विषयके अनुरूप और ऐसी प्रभावशालिनी होती थी, कि जिससे उनके विलक्षण ज्ञानका परिज्ञान तो होता ही था, और श्रोता भी मंत्रमुग्धसे हो जाते थे। टण्डनजी अँग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, अरबी तथा कुछ अन्य विदेशी भाषाओंके एक अच्छे

अध्येता और विद्वान थे। वे साहित्यकार और ऊँचे दर्जेके लेखक भी थे। खुदा-कालमें उनकी अंग्रेजी और हिन्दीमें लिखी हुई कुछ ऐसी रचनाएं प्राप्त हुई हैं, जो तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित हुई थीं, जिनसे उनकी बहु-मुखी प्रतिभा, लेखनकला विद्वत्ता और विचार शैलीका परिचय सरलतासे लिया जा सकता है। उन्होंने संस्कृत और हिन्दी साहित्यका अध्ययन, मनन और चिन्तन बड़ी गम्भीरतासे किया था। इस ओर इनका विशेष आकर्षण और उत्साह था; किन्तु परिस्थितियोंके अनुकूल राष्ट्र तथा राष्ट्रभाषाकी राजनैतिक विचारधाराके नेतृत्व और समर्थनके कारण उन्हें साहित्य-निर्माणके कार्यमें विरत होना पड़ा, नहीं तो इनकी गणना भी आज उच्चकोटिके साहित्य-कारोंमें होती, यह असंदिग्ध है। उनका हृदय एक संवेदनशील साहित्यकारका हृदय था। यही कारण है कि इनका वरदहस्त साहित्य-सेवियों तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रेमियोंपर सतस्त जीवनभर बना रहा। उनके प्रोत्साहन, सहायता और प्रेरणासे हिन्दी भाषा और साहित्य जिस प्रकार प्रगति-पथपर अग्रसर हुआ और हिन्दीको राष्ट्रभाषाका पद प्राप्त हुआ इसका इतिहास भी एक समुज्ज्वल इतिहास है।

किन्तु यह बड़े खेद और दुखका विषय है कि राष्ट्रभाषाके इस युग-प्रवर्तक, उन्नायक सम्बन्धी अभी तक ऐसी कोई व्यवस्थित सामग्री तथा रचनाएँ उपलब्ध नहीं है, जिनमें इनके व्यक्तित्व, कृतित्व, भाषा, साहित्य, संस्कृति तथा राजनैतिक विचारोंके विविध पक्षोंका समग्र रूपसे अध्ययन, मनन और अन्वेषण किया जा सके। हाँ, कुछ संस्मरण-ग्रन्थ अन्य लेखकोंके लिखे अवश्य उपलब्ध हैं, किन्तु वे एकांगी हैं। टण्डनजीने जीवनके गत ६०—७० वर्षोंमें राजनैतिक मंचों, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके अधिवेशनों, सांस्कृतिक सम्मेलनों, साहित्य गोष्ठियों, परिषदों, सामाजिक क्षेत्रों तथा सार्वजनिक सभाओंके माध्यमसे अधिकांश ऐसे भाषण तथा व्याख्यान दिए हैं, जिनकी साहित्य, भाषा, चिंतन और मननकी दृष्टिसे अपनी एक महत्ता और विशेषता है और जो पत्र-पत्रिकाओं-के पृष्ठोंमें बिखरे पड़े हैं। किन्तु उनका समीकरण और एकीकरण किस प्रकार हो, यह विचारणीय प्रश्न है। कार्य बड़ी लगन, परिश्रम और अनुसंधानका है। इसकी पूर्ति कब और कैसे हो सकती है? इसका उत्तरदायित्व हिन्दी प्रेमियों और हिन्दी जनतापर ही निर्भर है।

टण्डन निबन्धावलि इस दृष्टिसे हमें दिग्दर्शन थोड़ा-बहुत भाग दर्शन करा सकती है। यह निबन्धावलि अपने ढंगकी अकेली रचना है। इसमें टण्डनजीके साहित्यिक, राष्ट्रभाषा सम्बन्धी, सांस्कृतिक तथा कतिपय उपयोगी विषयोंके निबन्ध संकलित और संपादित कर संग्रहीत किए गए हैं। टण्डनजीने समय-समयपर विषयोंके अनुकूल इतने उच्चकोटिके भाषण दिए हैं जो स्वतः एक स्वतन्त्र निबन्धका रूप ग्रहण किए हुए हैं। ऐसे उनके कई भाषणोंको हमने इस संग्रहमें निबन्धका रूप देनेकी चेष्टा की है। यदि हिन्दी प्रेमियोंको यह कृति पसन्द आई, तो हमें हार्दिक प्रसन्नता होगी और भविष्यमें राजर्षि टण्डनजीकी विविध विषयोंकी अन्य उच्चकोटिकी कृतियोंको उपस्थित करनेमें हमें शक्ति प्राप्त होगी।

अन्तमें हम दक्षिण भारतमें हिन्दी प्रचारके अग्रदूत साहित्य वाचस्पति पंडित हरिहर शर्मा और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धाके प्रधान-मंत्री आदरणीय पंडित मोहनलाल भट्टके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। जिनकी प्रेरणा और सद्भावनासे यह 'निबन्धावलि' प्रस्तुत की जा रही है। इन दोनों अग्रजोंके आग्रह और कृपासे हम इस प्रकार वचनबद्ध हो गए कि 'टण्डन निबन्धावलि' के रूपमें आज हमें राजर्षि टण्डनजीके प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करनेका सुअवसर और सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। राजर्षि राष्ट्रकी एक महान विभूति थे। उनके साहित्यका संरक्षण, अन्वेषण और प्रकाशन सम्यक रूपसे होना चाहिए। इसका उत्तरदायित्व हिन्दी संसारपर विशेषरूपसे आता है।

प्रयाग — विनीत

१५–९–७० — **ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'**
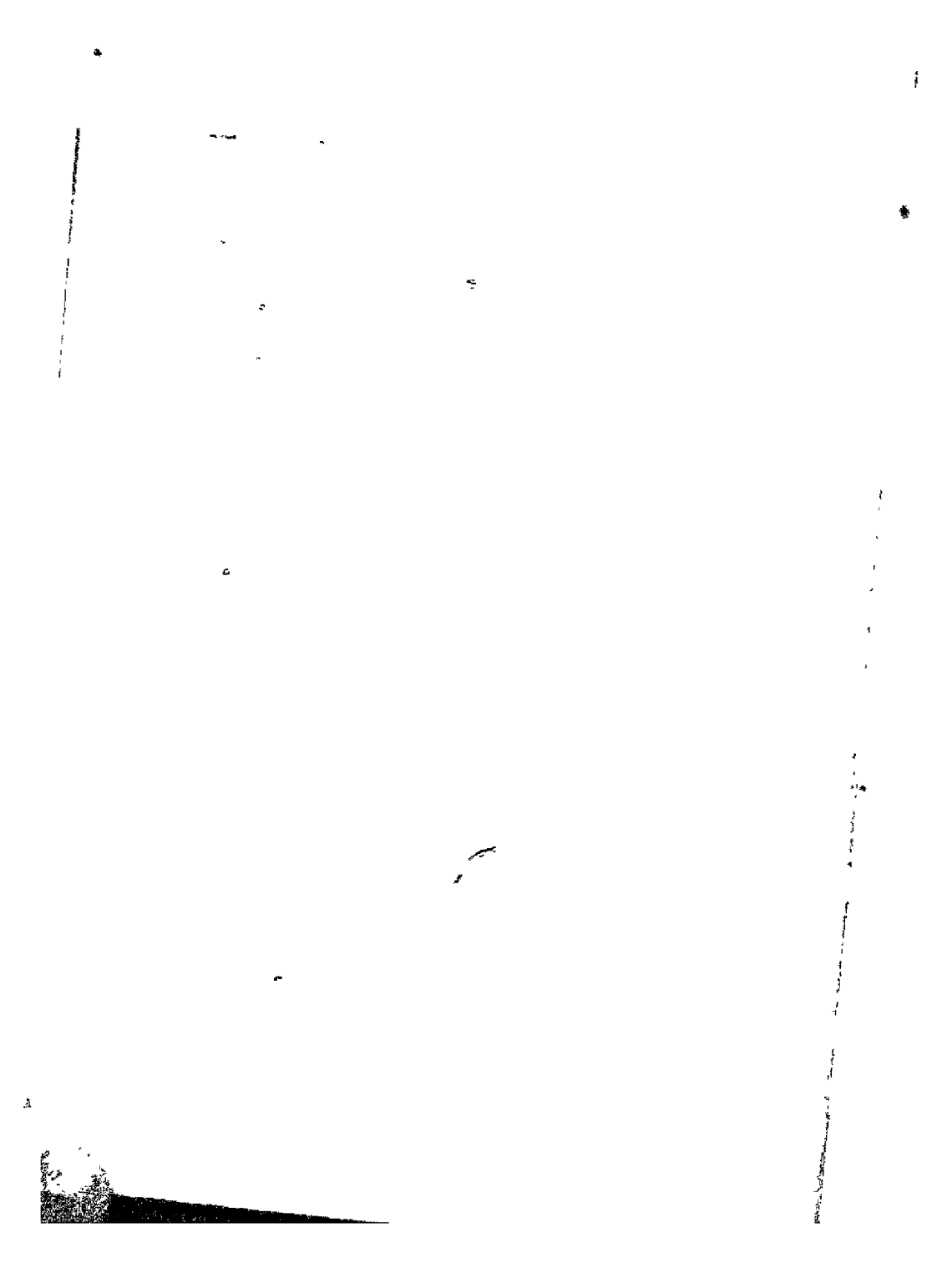
प्रकाशक का निवेदन

अपनी प्रकाशन योजनाके अन्तर्गत राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, दो ग्रन्थमाला—'गांधी ग्रन्थमाला और टण्डन ग्रन्थमाला' का प्रारम्भ इस वर्ष कर रही है। टण्डन ग्रन्थमालाके प्रथम पुष्पको राष्ट्रभाषा प्रेमियोंके समक्ष रखते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है।

मालाओंके सम्पादक, श्री मोहनलाल भट्टने निर्णय किया था कि दोनों मालाओंका आरम्भ उनके नामके अनुरूप गांधीजी तथा टण्डनजीके सम्बन्धमें लिखी पुस्तकोंसे किया जाए। तदनुसार 'गांधी ग्रन्थमाला' का प्रथम पुष्प 'महात्मा गांधीकी आत्मसाधना' पुस्तकसे हो रहा है और 'टण्डन ग्रन्थमाला' का 'टण्डन निबन्धावलि' से। 'टण्डन निबन्धावलि' में राजर्षि टण्डनके पुराने लेखोंका संग्रह है। पुराने निबन्धोंको 'अभ्युदय', 'प्रदीप' आदि पत्रिकाओंसे बड़े परिश्रमसे खोज कर उनका संकलन तथा सम्पादन करनेका जो कष्ट उसके सम्पादक, श्री ज्योतिप्रसाद 'निर्मल'ने किया है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं। उन्होंने पुस्तकमें टण्डनजीका जीवन परिचय जोड़कर उसकी उपयोगिता बढ़ा दी है।

इन मालाओंको शुरू करनेके मूलमें राष्ट्रभाषा प्रचार समितिका एक ही उद्देश्य है : पढ़ने योग्य सुन्दर राष्ट्रीय साहित्य जनताके हाथोंमें देना और उनमें इस प्रकारके साहित्यको पढ़नेकी रुचि पैदा करना। आशा है हमारे इस साहसमें हमें जनताका पूरा सहयोग मिलेगा।

इस पुस्तकके तैयार करनेमें हमें बहुतोंका सहयोग और सहायता प्राप्त हुई है। श्री रामेश्वर दयाल दुबे, श्री मदनलाल गौर तथा छापखानेके व्यवस्थापक तथा कर्मचारी, जिन्होंने पुस्तकको शुद्ध, सुन्दर बनानेमें तथा समयपर प्रकाशित करनेमें हमारी सहायता की है; उन सबके प्रति हम अपना आभार प्रदर्शित करते हैं।

तारीख २-१०-७०

मंत्री,

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

राजर्षि टण्डन : जीवन-परिचय

*

प्रयागकी भूमि प्राचीनकालसे सन्त और साधुओंके समागमके लिए प्रसिद्ध रही है। हम यह तो नहीं कह सकते हैं कि महर्षि भारद्वाजका जन्म कहाँ हुआ था, किन्तु उत्तर वैदिक कालमें उनके निवाससे प्रयागको ऋषि-आश्रमके रूपमें महान् ख्याति प्राप्त हुई। वन जाते हुए भगवान् रामकी भेंट यहाँ महर्षि भारद्वाजसे हुई थी और उनका गुरुकुल उन्होंने देखा था।

प्रयाग नगरकी प्रतिष्ठा अतीतमें धार्मिक संस्थानके रूपमें रही है। उसका प्रभाव हमें बहुत-कुछ वर्तमानमें भी देखनेको मिलता है। यहाँ जन्म लेनेवाले तीन महापुरुष महामना पं. मदनमोहन मालवीय, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन और पंडित जवाहरलाल नेहरू धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय जागरणके अग्रदूत रहे हैं।

श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डनका जन्म प्रयागके श्री शालग्राम टण्डनके यहाँ संवत् १९२९ में श्रावणके पुरुषोत्तम मासमें शुक्लपक्षकी द्वितीया, दिन मंगलवारको हुआ। अँग्रेजी तिथि १ अगस्त १८८२ ईस्वी थी। श्री शालग्राम टण्डनजी राधास्वामी सम्प्रदायके माननेवाले थे। पुरुषोत्तम मास (अधिक-मास) में जन्म होनेके कारण आपका नाम पुरुषोत्तमदास रखा गया। टण्डनजी पिताकी चिरप्रतीक्षित सन्तान थे, अतएव इनका लालन-पालन बड़े लाड-प्यारसे होता रहा।

टण्डनजीकी आरम्भिक शिक्षाकी पाठशाला, चौधरी महादेव प्रसादके घरके सामनेका पीपलका पेड़ था, जहाँ एक मौलवी साहबने इनको हिन्दी वर्णमाला और अंकोका बोध कराया था। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करनेके बाद उन्हें सी. ए. वी. स्कूलमें भर्ती कराया गया। सन् १८९७ ई. में एण्ट्रेंसकी

परीक्षा प्रथम की और सन् १८९९ ई. मे इण्टरकी परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद आप उस समयकी सुविख्यात शिक्षण संस्था म्योर सेण्ट्रल कालेजमे प्रविष्ट हुए और वहाँसे १९०४ मे बी. ए. की परीक्षा पास की। इसके बाद इन्होंने वकालतका अध्ययन आरम्भ किया और दो वर्षमे वकालतकी परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। पुन: सन् १९०७ ई. में इतिहास विषयमे एम. ए. की परीक्षा भी पास की।

इस बीच टण्डनजीका सम्पर्क महामना मदनमोहन मालवीय एवं पण्डित बालकृष्ण भट्टसे होता रहा। उनके भारतीय संस्कृति तथा साहित्य सम्बन्धी विचारोंका प्रभाव टण्डनजीपर पड़ता रहा। टण्डनजी जब कानूनके विद्यार्थी थे, तब डॉ. कैलाशनाथ काटजू भी उनके सहपाठी थे।

टण्डनजीका विवाह १८९७ में, पन्द्रह वर्षकी अवस्थामे चन्द्रमुखी देवीके साथ हुआ। उस समय इन्होंने एन्ट्रेस परीक्षा उत्तीर्ण की थी। श्रीमती चन्द्रमुखी देवी सद्विचारोंकी एक धर्मपरायणा महिला है।

सन् १९०८ ई. में टण्डनजीने हाईकोर्टमे वकालत आरम्भ की। उन दिनों आप सर तेजबहादुर सप्रूके जूनियर बनकर कार्य करते थे। टण्डनजीमे राष्ट्रीय भावनाओंका संस्कार जन्मजात था। इनकी इसी रुचिके कारण ही इन्हें सन् १९०६ ई. मे इलाहाबादमे काँग्रेसका प्रतिनिधि चुने जानेका गौरव मिला। उस समय काँग्रेसका अधिवेशन बम्बईमे हो रहा था, जिसमे श्री दादाभाई नौरोजी कॉंग्रेस महासभाके सभापति थे। इलाहाबादसे टण्डनजीके अतिरिक्त पंडित मदनमोहन मालवीय, पं. मोतीलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू तथा पं. अयोध्यानाथजी भी कॉंग्रेसके प्रतिनिधि होकर अधिवेशनमें गए थे। ये सभी सज्जन उन दिनों इलाहाबादके प्रसिद्ध वकीलोंमें थे।

टण्डनजीके विचार स्वराज्य आन्दोलनसे अधिकाधिक अभिभूत होते गए। आपने बड़ी सच्चाई, त्याग, निष्ठा एवं लगनके साथ महात्मा गांधीके राष्ट्रीय आन्दोलनोंमे भाग लिया। आपके गुणोंने सबका ध्यान आपकी ओर आकृष्ट किया। सन् १९२१ ई. में आपने जेलयात्रा की। जेलसे मुक्त होनेपर आपने अपना समय कॉंग्रेस-संगठनमे लगाया। आपकी कॉंग्रेस-सेवासे प्रभावित होकर सन् १९२३ मे प्रान्तीय कॉंग्रेसके गोरखपुर अधिवेशनका सभापति आपको बनाया गया।

स्वराज्य आंदोलनके ही सिलसिलेमें टण्डनजीने किसान आंदोलन आरम्भ किया। इस आन्दोलनके आप ही जन्मदाता थे। किसानोंमें जागृति लानेका नेतृत्व आपने सँभाला और उनको स्वराज्य आन्दोलनका सहभागी बनाया। टण्डनजीने सन् १९३० और सन् १९३२ ई. के दिनों आन्दोलनोंमें किसानोंकी लगान-बन्दीका नेतृत्व किया। गाँव-गाँवमें जाकर सभाएँ की और किसानोंमें जागृति पैदा की। प्रान्तीय काँग्रेस कमेटीके तत्सम्बन्धी निर्देशोंका भी संचालन वे करते रहे।

टण्डनजीमें महामना मालवीयजी और पंडित बालकृष्ण भट्टके सम्पर्कमें विद्यार्थी-जीवनसे ही हिन्दीके प्रति बड़ा उत्साह और प्रेम था। भट्टजी द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-प्रदीप' में आप अपनी रचनाएँ प्रायः प्रकाशित करवाया करते थे। टण्डनजीकी रचनाओंका प्रकाशन 'अभ्युदय' में भी होता था। कुछ समय तक आप उसके सम्पादन-कार्यमें भी सहायता देते रहे।

सन् १९१०ई. के अक्टूबर मासमें महामना मालवीयजीके नेतृत्वमें नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशीने हिन्दी-प्रेमियों और साहित्यकारोंका एक सम्मेलन आयोजित किया। उसी आयोजनमें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी स्थापनाका निश्चय हुआ। टण्डनजीने उस सम्मेलनमें प्रमुख रूपसे भाग लिया। उस सम्मेलनने मालवीयजीके सुझाव पर सर्व सम्मतिसे टण्डनजीको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका प्रथम प्रधान-मंत्री चुना। चूँकि टण्डनजी प्रयागमें रहते थे, अतः सम्मेलनका कार्यालय भी प्रयागमें रखा गया। टण्डनजी लगातार कई वर्षों तक सम्मेलनके प्रधानमंत्रीके पदपर कार्य करते रहे और इनके अथक प्रयासोंके फलस्वरूप सम्मेलनका विस्तार अखिल भारतीय स्तरपर हो गया। सम्मेलनने हिन्दीके प्रचार-प्रसारके नए-नए संकल्प लिए। टण्डनजीका अभिमत था कि हमारी शिक्षा मातृभाषा के माध्यमसे होनी चाहिए। एतदर्थ सम्मेलनने अपनी स्थापनाके तीन वर्षके अनन्तर ही हिन्दी माध्यमसे परीक्षाएँ लेनेका संकल्प लिया और उन्हें आरम्भ किया। इन परीक्षाओंकी लोकप्रियता प्रतिवर्ष बढ़ती गई और आज इन परीक्षाओंके द्वारा देशके हजारों विद्यार्थी हिन्दी साहित्यके निर्माण तथा उसके प्रचार-प्रसारमें सहायक सिद्ध हो रहे हैं।

टण्डनजीने सम्मेलनकी सेवामें अपने समस्त जीवनको घुला-मिला दिया। सन् १९१८ ई. मे राष्ट्रीय-कॉंग्रेस के माध्यमसे भारतीय राजनीतिमे महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधीने प्रवेश किया। वे अफ्रीकासे भारतीयोंके आन्दोलन-का सफल नेतृत्व करके भारत लौटे थे। गांधीजीके राष्ट्रीय-कॉंग्रेसमें प्रवेशके पूर्व कॉंग्रेस-महासभाकी सारी कार्रवाई अँग्रेजीमें होती थी। सन् १९१४ ई. के लखनऊ-कॉंग्रेसके महाधिवेशनमें पहली बार महात्मा गांधीजीने मंचपर खड़े होकर अपनी वक्तृता हिन्दीमे दी। बड़ा विरोध हुआ, पर गांधीजी हिन्दीमे ही बोलते रहे। गांधीजीके इस हिन्दी-प्रेमकी ओर सम्मेलनका ध्यान आकृष्ट हुआ और टण्डनजीकी प्रेरणासे सम्मेलनने अपने सन् १९१८ ई के इन्दौर-अधिवेशनके सभापतिके पदपर महात्मा गांधीको निर्वाचित किया। इस अधिवेशनमें हिन्दीको देशकी राष्ट्रभाषाके रूपमे प्रतिष्ठित करनेका संकल्प लिया गया और निश्चय हुआ कि हिन्दीका प्रचार और प्रसार दक्षिण भारतमे भी किया जाए तथा दक्षिण भारतकी भाषाएँ उत्तर भारतमें भी पढाई जाएँ।

निश्चयके फलस्वरूप ही सन् १९१८ ई. मे 'दक्षिण भारतमें हिन्दी प्रचारका कार्य शुरू किया गया और बादमें 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना की गई। सन १९३६ मे 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा' की स्थापना की गई। मद्रासकी सभाने दक्षिण भारतके सभी प्रदेशोमे तथा वर्धाकी समितिने पश्चिम, पूर्व एवं उत्तरके अहिन्दी भाषी प्रदेशोंमे हिन्दी-प्रचारका सुनियोजित और सफल कार्य किया और आज भी कर रही है। पहले ये दोनो संस्थाएँ सम्मेलनका ही अंग थी, पर बादमें मद्रास की 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' स्वतन्त्र संस्था बन गई और अब यह केन्द्रीय सरकार द्वारा राष्ट्रीय महत्वकी संस्था घोषित कर दी गई है। टण्डनजीका राष्ट्रभाषा प्रचार समितिके प्रति बड़ा ही लगाव रहा, उसके संवर्धन और कल्याण एव कार्यकलापोंमें वे बड़ी दिलचस्पी रखते रहे। अब तक वर्धाकी समितिके जो भी मन्त्री रहे और हैं—श्री मो. सत्यनारायण, श्री श्रीमन्नारायण, श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन, श्री मोहनलाल भट्ट—ये टण्डनजीके बहुत निकटके थे और हिन्दीके उत्थानमें उनके अन्यतम सहयोगी और साथी बने रहे।

हिन्दी और सम्मेलनके प्रति टण्डनजीकी सेवाएँ अनुपम हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन टण्डनजीके जीवनका पर्याय बन गया था। वैसे आरम्भमें ही

सम्मेलनका पूर्ण नेतृत्व टण्डनजीके हाथोंमें रहा। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका सन् १९२३ ई. का अधिवेशन कानपुर में हुआ, सम्मेलनके सदस्यों और हिन्दी-प्रेमियोंने उसका सभापतित्व करनेका अनुरोध टण्डनजीसे किया। टण्डनजीको वह अनुरोध न चाहते हुए भी स्वीकार करना पड़ा। सम्मेलनके उस अधिवेशनके स्वागताध्यक्ष आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी थे। इसके बाद तो सम्मेलनकी प्रत्येक सभा और समितियोंकी बैठकमें टण्डनजीके विचार पथ-प्रदर्शन का काम करते थे। बिना टण्डनजीके कोई बैठक होती ही नहीं थी।

इधर जब सम्मेलनका संचालन विशृंखल होने लगा, तो १९६२ में टण्डनजीके प्रयासोंके फलस्वरूप केन्द्रीय सरकारने एक शासननिकाय बनाकर सम्मेलनको राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित कर दिया। निकायने उसके संचालनके नए नियम बनाए हैं।

टण्डनजी मार्च सन् १९३७ ई. में उत्तर प्रदेशकी विधान-सभाके सर्वसम्मतिसे अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे और ३ नवम्बर १९३९ तक वे इस पदपर बने रहे। दुबारा पुनः जब सन १९४७ ई. में देश आजाद हुआ तथा विधान-सभाके चुनाव सम्पन्न हुए, तो टण्डनजी इलाहाबाद से विधान-सभाके सदस्य निर्वाचित हुए तथा उनको विधान-सभाका अध्यक्ष चुना गया। सभाके अध्यक्ष रहते हुए टण्डजीने अपना जो निष्पक्ष मत रखा और अध्यक्षके आदर्श जैसा पालन किया, वह पिछले अध्यक्षोंके लिए अनुकरणीय बना।

सन् १९४९ ई. में जब भारतीय संविधान सभाकी बैठकें की गई, तो उनमें राष्ट्रभाषाका प्रश्न अत्यन्त उलझा हुआ प्रश्न था। अँग्रेजी-परस्त एक बहुत बड़ा वर्ग हिन्दीको राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकार किए जानेके विरुद्ध था। यहाँ तक कि प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू भी 'हिन्दुस्तानी' के पक्षमें थे। यह बड़ी ही विकट स्थिति थी। ऐसी विकट स्थितिमें टण्डनजीने हिन्दीका नेतृत्व किया और सर्वसम्मतिसे संविधान-सभा द्वारा हिन्दीको राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकृति प्रदान कराई। यदि टण्डनजीने वहाँ हिन्दीका नेतृत्व न किया होता तो ऐसा होना कदापि सम्भव न होता।

टण्डनजी अपने व्यक्तिगत जीवनमें बहुत ही संयमी, मितव्ययी तथा दूसरोंके प्रति बड़े उदार रहे। उनको समय-समयपर आर्थिक संकटोंका सामना करना पड़ा, किन्तु उन्होंने इसकी चिंता तनिक भी नहीं की। टण्डनजीको

नाभा स्टेटके मंत्रीपदपर सम्मानके साथ बुलाया गया था, पर विचारोंमें मतभेद होनेके कारण उन्होंने वह पद छोड़ दिया। आपने पंजाब नेशनल बैंकके जनरल मैनेजर के पदपर भी बड़ी योग्यतासे कार्य किया। सन् १९२८ ई. में लाला लाजपतरायकी मृत्यु हो जानेसे लालाजी द्वारा संस्थापित लोक-सेवक-मंडल-जैसी संस्थाका योग्य संचालक जब कोई न रहा, तो महात्मा गांधीकी सलाहसे टण्डनजीने बैंकका पद छोड़ दिया और उन्होंने अपना जीवन लोक-सेवक-मंडलको अर्पित कर दिया। वे उसके अध्यक्ष बनाए गए। जीवन-पर्यन्त उन्होंने लोक-सेवक-मंडलके एक सदस्यके रूपमें अपनेको रखा, वे अपनी समस्त आय लोक-सेवक-मंडलको दे देते थे और अपने निर्वाहके लिए एक निश्चित धनराशि मंडलसे लिया करते थे।

टण्डनजी अपने दृढ़ विचारोंके लिए प्रख्यात रहे हैं। दृढ़ विचारोंका अर्थ यह नहीं है कि वे हठवादी थे। वे न्याय-संगत, पवित्र तथा त्यागपूर्ण मनका आदर करते थे और ऐसा न होनेपर वे बड़े-से-बड़े नेता का भी विरोध करते थे। हिन्दी तथा हिन्दुस्तानीके प्रश्नको लेकर महात्मा गांधीसे उनका मतभेद रहा, पर टण्डनजीने सदैव हिन्दीके स्वीकृत रूपको ही राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकार किया। पण्डित जवाहरलाल नेहरू और टण्डनजीके भी सांस्कृतिक विचार परस्पर भिन्न रहे हैं, टण्डनजी अपने विचारोंके प्रति दृढ़ रहे हैं, किन्तु जहाँ राष्ट्र और सम्पूर्ण समाजके हितका प्रश्न आता था, टण्डनजी अपने विचारों-को भी पीछे छोड़ देते थे। १९५० में जब टण्डनजी नासिकमें अखिल भारतीय कॉंग्रेसके अध्यक्ष चुने गए, तो पण्डित जवाहरलाल नेहरू इससे सहमत नहीं थे, फलतः उन्होंने कार्य-समितिसे त्यागपत्र दे दिया। टण्डनजीने ऐसे समयमें नेहरूजीके विचारोंका सम्मान किया, क्योंकि राष्ट्रका नेतृत्व नेहरूजीको सँभालना पड़ रहा था। टण्डनजीने नेहरूजीके पक्षमें कॉंग्रेसके अध्यक्ष पदसे इस्तीफा दे दिया।

टण्डनजी मितव्ययी तो थे ही, उनका जीवन सन्तका जीवन था। उनमें अपूर्व देश भक्ति, हिन्दी-प्रेम एवं अपनी संस्कृतिके प्रति अनुराग था। उन्होंने भारतीय-संस्कृति-सम्मेलनका भी नेतृत्व किया। अपने दैनिक जीवनमें वे शौक तथा आरामको तिलांजलि दिए बैठे थे। वे दूध नहीं पीते थे, न घी, दही या दूधका बना कोई सामान खाते थे, वे दूध को गायके बछड़ेकी सम्पत्ति

मानते थे उसका हक्क लेना उनकी दृष्टिमें हिंसा था। उनका यह एक विचित्र एवं अद्भुत त्याग था। वे अपने पुराने वस्त्रोंको भी पुनः सिलाई करके पहनते थे।

टण्डनजीके महान् सन्त-जीवनके प्रति नतमस्तक होकर समाज-सेवियों तथा विद्वज्जगत्ने उनको 'राजर्षि' की उपाधिसे अलंकृत किया। इस उपाधिसे सम्मानित होनेका गौरव टण्डनजीके पहले किसीको नहीं प्राप्त हुआ है। अतः हिन्दीजगत्की प्रेरणासे दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलनने 'टण्डन अभिनन्दन ग्रन्थ' समर्पित करनेका आयोजन किया। यह समर्पण समारोह प्रयागमें ही आयोजित हुआ और स्वयं महामहिम राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने प्रयागमें उपस्थित होकर टण्डनजीको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया। यह बड़ा ही भव्य समारोह था। देशभरके गण्यमान्य नेता, विद्वान् तथा समाज-सेवक इस समारोहमें सम्मिलित हुए थे। टण्डनजी उन दिनों अस्वस्थ थे, अतः समारोह दिल्लीमें न किया जाकर प्रयागमें किया गया। टण्डनजीकी आदर्श-सेवाके निमित्त भारत सरकारने 'भारतरत्न', सम्मेलनने साहित्य वाचस्पति' की उपाधियोंसे उन्हें विभूषित किया।

टण्डनजी अन्ततः पूर्ण स्वस्थ नहीं हुए और ३—४ वर्षके जीवन-संघर्षके अनन्तर १ जुलाई १९६२ को उनकी इहलीला समाप्त हो गई।

टण्डनजीके न रह जानेसे हिन्दीका पक्ष कमजोर पड़ गया है। वे हिन्दीके अजेय सेनानी थे। उनकी इस दैवी अनुपस्थितिका ही लाभ उठाकर लोक-सभाने सन् १९६५ ई. में विधेयक पास कर अँग्रेजीके अभी चलते रहनेकी अवधि बढ़ा दी। इस अवधिकी सीमा भविष्य के गर्भमें है। यह अत्यन्त दुःखकी बात है। देखना है कि हम हिन्दीवाले टण्डनजीके उत्तराधिकारका सम्यक् निर्वाह कब पूरा करते हैं? यह तभी पूरा होगा, जब देशके राजकाजके व्यवहारमें से अँग्रेजीका निष्कासन हो जाएगा तथा उसके स्थानपर राष्ट्रभाषा हिन्दी एवं देशभाषाओंसे पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाएगी।

* * *

अनुक्रमणिका

१. कविता

*

कविता सृष्टिका सौन्दर्य है, कविता सृष्टिका सुख है, कविता ही सृष्टिका जीवन-प्राण है। परमाणुमें कविता है, विराट रूपमें कविता है, बिन्दुमें कविता है, सागरमें कविता है, रेणुमें कविता है, पर्वतमें कविता है, वायु और अग्निमें कविता है, जल और थलमें कविता है, आकाशमें कविता है, प्रकाशमें कविता है, अन्धकारमें कविता है, सूर्य-चन्द्र और तारागणमें कविता है। किरण और कौमुदीमें कविता है। मनुष्यमें कविता है, पशुमें कविता है, वृक्षमें कविता है। जिधर देखो कविता ही का साम्राज्य है। प्रकृति काव्यमय है, सारा ब्रह्माण्ड एक अद्‌भुत महाकाव्य है, जिस मनुष्यने इस सार-गर्भित रसमयी कविताके आनन्दका स्वाद चखा, वही भाग्यवान है। जिसने इस सरस्वती-मन्दिरमें कुछ शिक्षा ग्रहण की और मनन किया, वही पंडित है, जिसने इस पवित्र प्रवाहको अपनेमें बहा दिया, वहीं विरक्त है। जिसने इस अमृत-प्रवाहमें डूब-डूबकर, दो-चार कलश भरकर, प्यासे थके हुए रोगी व मृतप्राय यात्रियोंको कुछ बूँद पिलाकर उन्हें शक्ति दी और पुनर्जीवित किया, वही कवि है।

ईश्वरीय सौन्दर्यको—प्राकृतिक कविताको भाषाकी छटा द्वारा संसारको दरसाना ही कविका कर्तव्य है। जितना गहरा वह अपनी प्रतिभा

वा [illegible] सौन्दर्य-सागरमें डूबता है, उतना ही अधिक वह अपने कर्त्तव्य मग्न होता है। संसारके पदार्थों और घटनाओंको सभी देखते हैं, परन्तु जिन आँखोंसे उन्हें कवि देखता है, वे निराली होती हैं। गँवारके लिए पहाड़ भीतरसे आती हुई नदी, एक नदी मात्र है। कविके लिए वह श्वेतवस्त्रा, शोभायुक्त लाजवन्तीकी नाचती हुई शृंगारकी रंग-भूमि है। आँख वही, पर चितवनमें भेद है। बिहारीने तो यह सच कहा है :—

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवन औरे कछू, जिहिं बस होत सुजान॥

किन्तु बिहारीने इस रसीले दोहेमें केवल बाहरी आँखों ही के रसका वर्णन किया और वह भी अधूरा। वास्तवमें वश करनेवाली आँखोंमें इतना रस नहीं होता, जितना वश होनेवाली आँखोंमें।

हीरेकी परख जौहरीकी आँखें करती हैं, कुब्जाके सौंदर्यकी पहचान रस-प्रवीण कृष्ण ही को होती है। पदार्थ रूपी चित्रोंमें चितेरे हाथकी महिमा कविकी ही आँखें पहचानती हैं। प्राकृतिक दैवी संगीत उसीके कान सुनते हैं। विज्ञानवेत्ता पदार्थोंके बाहरी अंगोंकी छानबीन करता है और उनके अवयवोंका सम्बन्ध ढूँढ़ता है, नीतिज्ञ उनसे मनुष्य-समाजके लिए परिणाम निकालता है, किन्तु उनके आन्तरिक सौन्दर्यकी ओर कविका ही लक्ष रहता है। वैज्ञानिक और नीतिज्ञ जैसे-जैसे अपने लक्षकी खोजमें गहरे डूबते हैं, वैसे-वैसे कविके समीप पहुँचते जाते हैं। सभी विद्याओं और शास्त्रोंका अन्त उनकी सफलता एवं कवितामें लीन होनेमें है। कविके सम्बन्धमें कहा है :—

जानाति यन्न चन्द्रार्कौ जानन्ति यन्न योगिनः।
जानीते यन्न भर्गोऽपि तज्जानाति कविः स्वयम्॥

यही कवि और कविताका आदर्श है। उसी आदर्शकी ओर सच्चा कवि जाता है। जितना ही वह उसके समीप पहुँचता है, उतना ही वह प्रभाव-शाली और उसकी कविता स्थाई होती है। भाषा केवल पहिनावा मात्र है। [illegible]नकी कविता वास्तवमें संसारके लाभके लिए होती है: क्योंकि कवि-सृष्टिमें [illegible]र्ण प्रजातन्त्र है। समष्टिवादका शुद्ध व्यवहार है। यहाँ स्वतन्त्रता है, [illegible]च्छन्दता है, अपरिमित सम्पत्ति है, कोई रोकनेवाला नहीं, जितना चाहो

उसमें मग्न बन जाओ वह रचना नहीं। उसमें केवल इच्छा और शक्तिकी
[illegible] है

हिन्दी बोलनेवालोंका यह सौभाग्य है कि कविताको ऊँचे आदर्शके समीप तक पहुँचानेवाले कई कवि ऐसे हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी भाषा द्वारा अपनी अमूल्य वाणीसे संसारका उपकार किया है। मनुष्य जाति सदा उनकी ऋणी रहेगी। कबीर, सूर और तुलसी—अहा! उनके नामोंका स्मरण करते ही किसी दैदीप्यमान सौन्दर्य और पवित्र आनन्दकी सृष्टिके द्वार खुल जाते हैं। इनके भावोंको जिसने समझा, वह सच्चा पंडित है। इनके मर्मको जिसने पाया, वह स्वयं महात्मा है। संसार साहित्यकी चर्चा करता है, काँचको हीरा जानकर उसके पीछे दौड़ता है, खेलके गुड्डेको बालक समझकर उनका ब्याह करता है। अपनी करतूतपर अभिमानी बनता है, अनेक भाषाएँ अपने-अपने काँचके टुकड़ोंको सामने रखकर हीरेका दम भरती हैं। किन्तु जैसा कबीर ने कहा :—

सिंहन के लँहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत।
लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात॥

कवियोंमें ही लँहड़े नहीं होते। वह काल, वह देश भाग्यवान है, जहाँ एक भी कवि उत्पन्न हो जाए। कबीर, सूर, तुलसी, हिन्दी भाषाके नहीं संसार-साहित्यके लाल हैं। परखनेवालोंकी आवश्यकता है। कबीरके दोहों और शब्दोंकी परख कौन करता है? सूर और तुलसी के पदों एवं चौपाइयोंको कौन तौलता है? मात्रा और अक्षरोंको गिननेवाले समालोचक? छिः! परखनेके लिए कुछ हृदयकी सामग्री चाहिए, पुस्तकोंके आडम्बरकी आवश्यकता नहीं। इन कवियोंके हँसनेका अर्थ कौन समझता है? इनके वाक्योंके मर्म तक कौन पहुँचता है? स्वयं कोई मस्त प्रेमी, कोई कविताका मतवाला, जो शुद्ध हृदयसे, अभिमान छोड़ इस सृष्टिके भीतर नम्रतापूर्वक शिष्य बनकर आता है :—

'ढाई अक्षर प्रेमका, पढ़ै सो पंडित होय।'

कुछ काँच पहचाननेवाले समालोचक हिन्दी भाषामें साहित्यकी कमी देखते हैं। गाँवका रहनेवाला जिसने अपनी गाँवकी दूकानमें रंग-बिरंगके काँचके टुकड़े देखे हैं, नगरमें जाकर जब एक बड़े जौहरीकी दूकानमें जाता है,

तो अपने गाँवके समान रंगीले काँचोंको न देखकर बहुमूल्य मणियोंका तिरस्कार करता है और कहता है—हमारे गाँवकी दूकानके समान यहाँ मणियाँ तो हैं ही नहीं। ठीक यही दशा उन समालोचकोंकी भी है :—

"यह ग्राहक करवीन के, तुम लीनी करवीन।"

यदि मणिकी परख न हो, तो मणिका दोष नहीं, परखनेवालेका दोष है। किन्तु काँचका भी संसारमें काम है। ये भी चमकीले होते है, देखनेमें अच्छे लगते है। काँचके टुकड़े भी धन्य हैं, उनमे भी सौन्दर्य है। वे आनन्द बढ़ाते हैं, किन्तु हीरे और लालोंकी बात कुछ और ही है।

* * *

२. दर्शन और साहित्य

※

दर्शन और साहित्य इन दोनोंका परस्परका निकट सम्बन्ध है। वह साहित्य ही क्या जो दर्शन न करा सके। दर्शनकी प्रौढ़ता भी इसीमे है कि वह कविकी आँखोसे साहित्यका दर्शन करावे। दर्शन, शुष्क वाद-विवादात्मक तर्क नहीं, और वह संसारसे भिन्न भी नहीं। उसका कर्तव्य एक ही है—ससारके भीतर रहकर रहस्योद्‌घाटन करना। यदि दर्शनको संसारसे बाहर हटा दे, तो उसका कुछ मूल्य नही।

मुझको ऐसा दिखलाई पड़ता है कि पश्चिमका दर्शन अद्‌वैतवादकी तरफ जा रहा है। जिसने गणितकी ओर ध्यान दिया होगा, उसे पता चला होगा कि आजकल गणितज्ञोंका बोलबाला है। दर्शन के विद्‌यार्थी अचम्भेमें डूबे है कि गणितज्ञ उन्हे कहाँ लिए जा रहे हैं? फिजिक्स और गणित इकट्‌ठे चल रहे हैं और दूसरे विषयोंको अपनी तेजस्वितासे निस्तेज कर रहे है।

हमे दर्शन तथा साहित्य-क्षेत्रमे पश्चिमके देशोंसे बहुत-सी बातें सीखनी हैं। हम यूरोपके साहित्य और दर्शनका अध्ययन करें और उससे जितना लाभ उठा सकते है, उठानेकी भरसक कोशिश करें। हमारे यहाँ कविके बारेमें कहा गया है—"जहाँ सूर्य-चन्द्र नहीं जा सकते, जहाँ योगी लोगोंकी भी

पहुँच नहा है, वहाँ कविको प्रवेश मिलता है।" इसलिए कविका बहुत ऊँचा स्थान है। दर्शन और साहित्यका एक अद्भुत जोड़ा है। फारसीके एक शेर का भाव है—'मैं तो काफिर हूँ। सच्चे दार्शनिक और कविको कोई नहीं बाँध सकता। वह न कुरान, न पुरानसे बँधेगा। मुझको तुम्हारी मुसलमानी न चाहिए तो क्या मैं हिन्दू हूँ? मैं क्या कहूँ? मेरे बाजेका एक-एक तार सितारोंके-जैसा ऊँचाईपर चढ़ा हुआ है। मुझे जनेऊ की जरूरत नहीं।"

यह शेर लिखनेवाला कवि भी है और दार्शनिक भी। इस स्थानपर पहुँचनेके बाद कवि और दार्शनिकका भेद मिट जाता है।

मैं हिन्दीका सौभाग्य समझता हूँ कि हिन्दीमें ऐसे ऊँचे कवि हैं। वैसे तो अनेकों कवि हैं, लेकिन जो अनुभवकी बातें कहते हैं, ऐसे कवि बहुत कम हैं। कांचके टुकड़े बहुत हैं, लेकिन हीरे और लाल कम। हीरोंको हम न समझें तो हमारा दुर्भाग्य है :—

> सिंहनके लँहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत।
> लालनकी नहिं बोरियाँ, साधु न चले जमात॥

शेर, सियार और कुत्तोंकी तरह क्या गिरोह बनाकर चलता है? हंस भी पाँत बना कर नहीं उड़ते, रत्न भी बोरे भर-भरकर नहीं मिलते। इसी प्रकार साधु भी जमातमें नहीं चलते, इने-गिने ही होते हैं। कवि साहित्यिक भी लाल आदिकी तरह हैं। कबीरको लीजिए। मैंने इनका अध्ययन किया है। मुझे इनकी टक्करका एक भी कवि आज तक नहीं मिला है। यदि कोई मिलता है, तो हमारी हिन्दी, मराठी, गुजराती, फारसी आदिमें ही। मौलाना रूमकी चीजें पढ़कर जो आनन्द आता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कबीरमें शब्द-पांडित्य न होनेपर भी वे स्वाभाविक कवि थे। वे व्यवहार कुशल थे, भक्त थे, युग-परिवर्तक थे। वे ऊँचे दार्शनिक होते हुए भी व्यवहारसे दूर कभी नहीं हटे। एक जगह वे कहते हैं:—

> साधो! पाँड़े निपुण कसाई
> बकरी मार भेड़को धाए, दिलमें दरद न आई।

एक तरफ दम्भका खुला प्रवाह है और दूसरी ओर वे भक्त हैं :—

> गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागूँ पाय।
> बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय॥

स्त्रियोंके विषयमें क्या ही अच्छा कहा है —

> **पतिव्रता मैली भली, काली कुटिल कुरूप।**
> **पतिव्रताके रूपपर वारूँ कोटि सरूप॥**

उनकी वाणी जल्दी समझ नहीं पड़ती। इसको समझनेकी कोशिश करनेसे पहले, योगकी क्रियाएँ जाननी आवश्यक हैं।

रवि बाबू को 'गीतांजलि' पर नोबेल प्राइज मिला। जब पहले पहल मैंने 'गीतांजलि' देखी, तब मुझे लगा, उसपर कबीरकी छाया है। मैं समझता हूँ कि रवि बाबूको प्राइज इसीलिए मिला कि यह चीज (अध्यात्मवाद) दुनियाके लिए नई चीज थी। साल भर बाद मुझे पता चला कि रवि बाबूने कबीरके कुछ पद्योंका अनुवाद, जो कि एक अलग किताबमें है, प्रकाशित किया है। मेरी धारणा सच निकली। कबीरके भाव बहुत ऊँचे थे। हिन्दीकी छायावादी कवियोंकी कविताओंमें भी कभी-कभी ऐसे ही अनोखे भाव दिखाई पड़ते हैं।

कबीरकी तरह सूर और तुलसी अपने-अपने स्थानपर अद्वितीय हैं। आप रामायण जानते हैं। मैं तुलसीके बारेमें कुछ नहीं सुनाऊँगा। लेकिन एक लोभ संवरण नहीं कर सकता। यह अभी तक किसी पुस्तकमें प्रकाशित नहीं हुआ। यह मुझे पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र ने एक बार सुनाया था। यह नई चीज है, इसीसे सुनाता हूँ—

> **तुलसी तृण जल कूलको, निर्बल निपट निकाज।**
> **का राखे का संग चले, बाँह गहे की लाज॥**

अर्थात् .... नदी या तालाबके किनारेपर उगी हुई घास निर्बल होती है — ऊजड़ स्थानकी घास सख्त होती है—और निकाम भी होती है, क्योंकि उसको न तो कोई घोड़ा खाता है, न गधा ही—लेकिन जब उस नदीमें कोई डूबता है, तब वह तिनका डूबतेका सहारा अवश्य हो जाता है। स्वयं उखड़कर बह जाता है या बहनेवालेकी जान बचा लेता है। किसीकी उसने रक्षा की, तो किसीके संग वह बह चला? आत्मत्यागका इससे अच्छा उदाहरण मिलना मुश्किल है।

मेरे एक मुसलमान मित्रने कहा था कि मेरी भाषा अप्राकृतिक होती है। मैं कहूँगा कि उनको हिन्दीमें परहेज है। हमारी हिन्दी-हिन्दुस्तानीमें साम्प्र-

सच तो मुसलमानोंने हिन्दी साहित्यमें बहुत काम किया है। रसखानने कितने ऊँचे उठकर भक्तिरसका गान किया था। उनका प्रसिद्ध पद "मानुष हौं तो वही रसखान....." हिन्दी कविताके अति उत्तम पद्योंमेंसे एक है। इसी तरह मलिक मोहम्मद जायसीने जो काव्य लिखा है, वह हिन्दीका एक अमर काव्य है। उन्होंने कितनी अलौकिकताके साथ पद्मावती और रत्नसेनके प्रेमका वर्णन किया है। मुसलमानोंकी दी हुई थातीको हम कैसे साम्प्रदायिक कह सकते हैं? जिन्होंने हमारे साहित्यको ऊँचा किया उनको हम कहाँ छोड़ सकते हैं? गलत हो या सही, यदि हमारे भाई गलत रास्तेसे जाएँ, तो हमारी गलती है या उनकी? अब दो धाराएँ जरूर हो चली हैं। हम तो गालिब और सौदाको भी अपनी सम्पत्ति मानते हैं। मेरे आगे संकुचित दृष्टि नहीं। उर्दू साहित्यकारोंने हमारे मुहावरोंका बहिष्कार करके अपने प्रयोग अलग कर लिए। वे 'कोयल' न कहकर 'बुलबुल' ही कहेंगे। बहुत अनुकूल न होते हुए भी यह हमारी ही अपनी चीज है। उर्दू के कवियोंने हमारी सम्पत्ति बढ़ाई है। उसमें हम अपनेको अमीर ही बना सकते हैं। सौदा ने एक स्थानपर कहा है :—

बिला राहे अदम जानेसे तू क्यों इतना डरता है।
हजारों रोज जाते हैं यह रास्ता खूब चलता है॥

"यह रास्ता खूब चलता है" मुहावरा हम किसी तरह खोने या छोड़नेके लिए तैयार नहीं है। हिन्दीवाले उर्दूसे द्रोह करते हैं, यह कहना गलत है। यदि हम अपने उदाहरणोंमें अर्जुन आदिका उदाहरण देते हैं, तो वे जानबूझकर ईसा-मूसा आदिका उदाहरण देते हैं। यह कट्टरतापूर्ण प्रणाली त्याज्य है। हम स्त्रियोंको 'मृगनयनी' कहते हैं तो वे 'चश्मे नर्गिस' कहते हैं। मैं तो कहूँगा कि यह उपमा ही गलत है। नर्गिसका आकार गोल होता है। उर्दूवालोंसे हमारा द्रोह नहीं। उर्दूकी कवितामें एक गुण है। थोड़े शब्दोंमें एक बड़ा भाव कह दिया जाता है। हमारे यहाँ दोहा या चौपाई छोटा छन्द है। उसमें भी यह गुण है।

मेरे अनेक भाई हिन्दीको अपनी नहीं समझते। वे रहीम और जायसीको नहीं पढ़ते। यही हमारा रोना है, दुर्भाग्य है।

ाय दर्शन और साहित्यका एकताका ख्याल आता है जहा
ार साहित्यकी एकताका अध्ययन कर वह सच्चा दृष्टिका उत्पन्न
कर। साथ-ही-साथ अन्धाधुंध अनुकरणकी आदतको भी आपको
हिए। यही अन्धश्रद्धा इतिहासमे हमारे गिरनेका एक कारण है।
। न सोचकर बाहरके स्वरूपको लेने लगे हैं। वेदोंकी सवारी,
ारी, साहेबकी सवारी निकलते देखकर मुझे तो इस अन्धश्रद्धापर
। इसी प्रकार किसीकी मृत्युके समय दुर्गापूजाकी रीति भी निराली
है। दुर्गापाठ तो राष्ट्रीय एकताका ग्रंथ है। इस अन्धश्रद्धाकी
न्दर इतिहासका दुःखद अंत दिखाई देता है। हम जिन्दा आत्माको
के पीछे भागते हैं। आज जरूरत है "उत्तिष्ठ कौन्तेय" का पाठ
वल शवकी पूजा करनेसे कुछ न होगा।

* * *

३. धन और उसका उपयोग

✻

विचार यह उठता है कि धन है क्या वस्तु किसी साधारण मनुष्यसे पूछिए तो वह यही उत्तर देगा कि धनके अर्थ हैं—रुपया, पैसा, मोहर, सोना, चाँदी हीरा, मोती इत्यादि। फिर उससे पूछा जाए कि क्यों जी, इन्हीं पदार्थोंको धन क्यों कहते हैं? क्या तुम्हारे घरकी और वस्तुएँ धन नहीं हैं? तो कदाचित वह यह कहेगा—"हाँ, एक प्रकारसे वे भी धन हैं, परन्तु विशेष कर धन इन्हीं पदार्थोंको कहते हैं; क्योंकि साधारण रीतिसे इनके ही द्वारा हम अन्य वस्तुओंको ले सकते हैं।" यद्यपि सम्पत्ति-शास्त्रके अनुसार युक्तिपूर्वक धनकी परिभाषा वह मनुष्य न दे सके, तथापि वह यह जानता है कि धन उसीको कहते है, जिसको देकर उसके बदले कोई पदार्थ मिल सके। वास्तवमें धन व सम्पत्तिके अर्थ बहुत बड़े हैं और इन शब्दोंसे उन समग्र पदार्थोंका बोध होता है, जिनसे मनुष्यकी इच्छाओंको पूरा करनेका साधन प्राप्त होता है और जिनके बदलेमें मनुष्य अन्य पदार्थोंको दूसरोंसे पा सकता है, अर्थात् 'धन' से उन सब पदार्थोंका बोध होता है, जिनके द्वारा मनुष्य औरोंकी शक्तिको व उनकी शक्तिके फलको अपने काममें ला सके। परन्तु साधारण बोलचालमें 'धन' और 'धन' की मापके पदार्थ व सिक्कोंसे

अतर नहा किया जाता मनुष्य धनका इच्छा केवल इस प्रयोजनस करता ह कि वह एसा मन्त्र ई, जिसको सिद्ध कर अपने पास रखनेमें मनुष्य औरोंकी शक्तिको अपनी इच्छाके अनुसार अपने वशमें कर सकता है और जिस प्रकार मंत्रकी सिद्धि, यदि उससे काम न लिया जाए, तो व्यर्थ है, उसी प्रकार धनका उपार्जन करना व्यर्थ है, यदि उसके द्वारा काम न लिया जाए। वास्तवमें सोना या चाँदीमें स्वय मनुष्यकी इच्छाओंके पूरा करनेकी सामर्थ्य नहीं है, वे केवल अन्य पदार्थोंके समान पंचभौतिक पदार्थ हैं और उन पदार्थोंमेंसे भी उस श्रेणीके नहीं हैं, जो मनुष्यके लिए सबसे अधिक आवश्यक और लाभदायक हैं। किन्तु जिस प्रकारसे मेसमेरिजम करनेवाला (अर्थात् अपने चैतन्यसे दूसरेके चैतन्यपर प्रभाव डालनेवाला) एक अज्ञान बालकमें अपनी शक्तिके द्वारा वह शक्ति उत्पन्न कर देता है, जो स्वयं उस मनुष्यमें नहीं है और ऐसी अद्भुत बातें कहला देता है, जो वह स्वयं नहीं कह सकता। इसी प्रकार बहुत कालसे मनुष्य-मात्रकी एकत्रित शक्तिने मिलकर इन धातुओंको वह शक्ति प्रदान कर दी है, जो वास्तवमें उन धातुओंमें नहीं है और मनुष्य उनसे वह काम करा लेता है, जो वह साधारण दशामें स्वयं नहीं कर सकता। जिस प्रकारसे मेसमेरिजमके लिए कोई बालक या पुरुष औरोंकी अपेक्षा विशेष उपयुक्त होते हैं, उसी प्रकार सोना, चाँदी, हीरा, मोती इत्यादि पदार्थोंमें विशेष कारणोंसे मनुष्यने यह शक्ति दे दी है, कि वे जहाँ जाते हैं, उन्हें सब कोई चाहता है और उनके बदलेमें सब प्रकारके पदार्थ मिल सकते हैं और व्यावहारिक काम हो सकते हैं, अर्थात् उन धातुओंमें कुछ गुण ऐसे हैं, जिनके कारण मनुष्यको यह सुविधा होती है कि उन्हें अपने व्यवहारका द्वार बना ले।

हमारी प्राचीन पुस्तकोंसे यह स्पष्ट है कि भारतवर्षमें प्राचीन कालमें 'गो-वंश' से वह काम लिया जाता था, जो आज कल सोना और चाँदी कर रहे हैं। अर्थात् मनुष्यकी सम्पत्तिकी माप 'गो-वंश' के संकेतसे की जाती थी। अब भी भारतवर्षके उन कोनों और कन्दराओंमें, जहाँ उस सभ्यताका असर नहीं है, जिसमें हम और आप रह रहे हैं, और कुछ अंश तक हमारे सब ही ग्रामोंमें मनुष्यके धनकी गणना उसके 'ढोर' (गाय, भैंस इत्यादि) से की जाती है, और अन्य पदार्थोंका मूल्य गाय और भैंस की तुलनासे किया जाता है। योरपके

दशामें भी उस समयके पश्चात् जब मनुष्य केवल आखेटसे निर्वाह करता था, जब लोगोंने कृषि-कार्य सीखा, तब वहाँ भी गाय, बैल, बकरी इत्यादि पशुगण ही 'धन' समझे जाते थे। यूनानी कवि होमरके काव्यसे स्पष्ट जान पड़ता है कि उनके समयमें अन्य पदार्थोंका मूल्य 'गो-वंश' की तुलनासे किया जाता था। जैसे वीरोंके शस्त्रोंके मूल्य ९ बैल, २० बैल, १०० बैल—इस प्रकारके बतलाए गए हैं। एक दासीका मूल्य ४ बैल कहा गया है, इत्यादि। पारसियोंके पवित्र ग्रन्थ 'जैन्द अवेस्ता' में भी इसी परिपाटीका प्रमाण मिलता है।

कहीं-कहीं जहाँ दासोंका व्यापार होता है, और उनके साथ पशुओंका-सा व्यवहार किया जाता है, उनकी संख्यासे अन्य पदार्थोंके मूल्यकी गणना की जाती है। इसी प्रकार वे पदार्थ भी, जिन्हें मनुष्यने शोभाकी वस्तु समझा है, सदासे धन का काम देते आए हैं। हमारे यहाँ 'कौड़ी' की गणना अब भी प्रचलित है। फीजी टापूके रहनेवालोंमें व्हेलके दाँतोंसे यही काम लिया जाता था। तेल, तमाखू, नमक, अन्न और इसी प्रकारके बहुतसे पदार्थोंने भिन्न-भिन्न देशोंमें और भिन्न-भिन्न समयमें वही काम किया है, जो आजकल हम चाँदी, सोनेसे ले रहे हैं। ऐसा भी सन्देह होता है कि कभी कहीं-कहीं लकड़ीके सिक्के चले हैं।

थोड़ा बहुत विचार प्रत्येक मनुष्यको इस बातका रहता है कि वह अपने धनसे अधिक-से-अधिक लाभ किस प्रकार उठाए और जितना ही अधिक विचार इस विषयपर मनुष्य करता है, उतना ही अधिक वह अपने धनसे सुख उठाता है। तो विचार इस समय यही है कि मनुष्य-मात्र किस प्रकारसे अपने धनका उपयोग करे, जिससे अधिक-से-अधिक सुख होनेकी संभावना हो? इस विचारमें भी दो शाखाएँ उपस्थित होती हैं—एक तो प्रत्येक मनुष्यके लिए अपने अधिक-से-अधिक सुखकी सम्भावना और दूसरे मनुष्य-जातिके अधिक-से-अधिक सुखकी सम्भावना। दूसरा विचार बहुत सूक्ष्म है। एक मनुष्यके कर्मोंका असर दूसरेपर किस प्रकारसे पड़ता है, एक मनुष्यके थोड़े सुखमें दूसरे मनुष्योंका कितना असीम सुख नाश होता है। एक मनुष्यके थोड़ेसे सुख छोड़नेसे संसारमें उस थोड़े सुखकी अपेक्षा कितना गुना सुख उत्पन्न होता है। यह बहुत ही रोचक और विचार-योग्य विषय है, परन्तु इतना सूक्ष्म है कि उसको यहाँपर नहीं

उठाएंगे। यहां केवल इस बातकी ओर हम ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही अधिक-से-अधिक सुखके लिए व उनके सुखके लिए जिनका सुख वह चाहता है, किस प्रकार धनका उपयोग करना उचित है।

सबसे पहली आवश्यकता मनुष्यको भोजन की है। आदि-कालसे लेकर आज तक सबसे पहला उद्योग मनुष्यको इसीके लिए करना पड़ता है। क्या उस कालमें जब मनुष्य केवल आखेटके सहारे रहता था, क्या उस समय जब वह केवल खेती, फल और पशुओंके दूधके ऊपर निर्भर रहता था, क्या आजकल जब वह इन कामोंके साथ ही सहस्रों प्रकारके काम करता है, सबसे पहला ध्यान उसका अपने शरीरके पालनकी ओर रहता है। यह इच्छा छोटे बच्चेसे बूढ़े तकमें प्रकृतिकी ही प्रविष्ट की हुई है और सृष्टिकी स्थिति इसीके ऊपर निर्भर है। इसीसे सबसे पहला सुख जो मनुष्य-मात्र अनुभव करता है, इसी आवश्यकताके पूरी करनेमें होता है और इस कारण धनका पहला उपयोग प्रत्येक मनुष्यके लिए इसी कार्यके निमित्त उचित है। परन्तु यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि धनकी उपयोगिता उसी भोजनके लिए व्यय होनेमें है, जिससे शरीरका पालन और उसकी पुष्टि हो, क्योंकि शारीरिक सुख इसीमें है कि शरीर हृष्ट-पुष्ट रहे। वह भोजन जो प्रायः केवल जिव्हाके स्वादके लिए अथवा इन्द्रियोंको प्रबल करनेके लिए किया जाता है, वास्तवमें सुखदायी नहीं है, उसमें क्षण-मात्रका सुख हो, परन्तु उससे यदि शरीर वा बुद्धिको हानि पहुँचे, तो प्रत्यक्ष है कि वह सुखदायी नहीं हो सकता। इससे भोजनके निमित्त धनकी अधिक-से-अधिक उपयोगिता उसीमें है, जिससे शरीरका पालन हो, शारीरिक और मानसिक शक्ति बढ़े। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येकका भोजन उसके कर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। आध्यात्मिक शक्तियोंको जगानेवाले योगियोंका भोजन वही नहीं हो सकता, जो अपने देशकी रक्षा करनेवाले और संग्राममें लड़नेवाले सिपाहीका। परन्तु यह सिद्धान्त अवश्य प्रत्येक मनुष्यके सम्बन्धमें कहा जा सकता है कि उसके भोजनकी अधिक-से-अधिक उपयोगिता उस प्रकारके खाद्य पदार्थोंमें है, जो उसके उस कर्ममें सहायक हो, जो उसका उद्देश है।

दूसरी आवश्यकता मनुष्यको व्यवहारके अनुसार कपड़े पहननेकी होती है। वस्त्रके सम्बन्धमें इस बातका कोई नियम नहीं बांधा जा सकता कि किस

मनुष्यको किस वस्त्रमें धन लगानेसे अधिक सुख मिलता है। प्रत्येक मनुष्यको अपनी दशाके अनुसार वस्त्र पहनने पड़ते हैं, परन्तु धन, अधिक-से-अधिक सुख देनेके लिए कहाँ तक वस्त्रोंमें लग सकता है, इसकी सीमा अवश्य होती है और सीमा मेरे विचारमें यह है कि वस्त्रोंसे शरीर स्वस्थ रहे और उन्हें देखकर जिनसे प्रसन्नता हो, उनके कारण चित्तमें कभी ग्लानि न उत्पन्न हो और उस समाजके लोग, जिसमें वह मनुष्य रहता है, पहिननेवालेके वस्त्रपर आक्षेप कर उसके चित्तको मलिन न करें। इसमें सन्देह नहीं कि इस सीमाके परे होकर भी मनुष्य धनके द्वारा सुख उठा सकता है। परन्तु वह धनका सबसे अच्छा उपयोग नहीं होगा, क्योंकि वही धन उसी मनुष्यके और कामोंमें लगकर अधिक सुख उत्पन्न कर सकता है।

तीसरी आवश्यकता मनुष्यकी यह है कि कोई ऐसी कारीगरी, हुनर अथवा व्यवसाय सीखे और करे, जिससे भोजन और वस्त्रकी आवश्यकताएँ तथा अन्य स्वाभाविक इच्छाएँ पूरी हो सकें, अर्थात् जिसके द्वारा आवश्यकतानुसार धनोपार्जन हो। इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि उस व्यवस्थाके सीखने और उसकी सामग्री इकट्ठा करनेमें धनका लगना बहुत ही उपयोगी और सुखका बढ़ानेवाला है।

पूर्वोक्त शारीरिक इच्छाओंमें और इन इच्छाओंको पूरा करनेके लिए धन पैदा करनेके यत्नमें धन लगानेके पीछे मानसिक इच्छाओंको पूरा करनेकी आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य और पशुमें यही समानता और अन्तर है कि कुछ दूर तक तो दोनोंके कर्म एक ही हैं, अर्थात् सबसे पहले दोनोंकी शारीरिक इच्छाओंको पूरा करनेकी आवश्यकता रहती है। इन इच्छाओंको पूरा करनेमें ही पशुओंकी तृप्ति और उनका सुख है, परन्तु मनुष्यकी अर्थात् साधारण मनुष्यकी और उनकी नहीं, जिनमें और पशुओंमें केवल सूरत हीका भेद है, तृप्ति शारीरिक इच्छाओंको पूरा करके नहीं होती। मनुष्य प्रकृतिकी अद्भुत कारीगरीको देखता है और स्वभावसे उसके चित्तमें प्रश्न उठते हैं—"यह क्या है? यह किस प्रकार होता है?" ज्ञानकी जिज्ञासा मनुष्य-मात्रका लक्षण है और इस जिज्ञासाके पूरी करनेमें जो आनन्द होता है, वह शारीरिक सुखकी अपेक्षा अधिक तीव्र और स्थायी होता है। इसलिए इस जिज्ञासाको पुस्तकों अथवा गुरु-शिक्षा

अथवा अपने विचार शक्ति द्वारा पूरा करना मनुष्यका चौथा कर्म है, और उसमें धन लगाना धनकी चौथी उपयोगिता है।

शरीरको अच्छा स्वस्थ रखनेके लिए भोजन और कपड़ेके अतिरिक्त उसके प्रत्येक अंगोंको काममें लानेके लिए व्यायामकी आवश्यकता पड़ती है और इस कारणसे कि शरीर और मनका घनिष्ठ सम्बन्ध है और जब तक उसका शरीरके ऊपर भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा, ऐसे शारीरिक आमोद-प्रमोदमें धन लगाना पड़ता है, जिनसे शरीरको लाभ हो और मनको भी प्रसन्नता हो। जिस प्रकारसे केवल भोजन और कपड़ेसे शारीरिक आवश्यकता समाप्त नहीं होती वरन और आनन्द देनेवाले खेलोंकी खोज होती है, इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करनेके अतिरिक्त भी मानसिक खेलोंकी आवश्यकता पड़ती है अर्थात् जिनमें कुछ बुद्धिका काम हो परन्तु बुद्धिको अधिक कष्ट करनेकी आवश्यकता न पड़े। कभी-कभी शारीरिक और मानसिक दोनों ही स्वास्थ्योंके लिए एक ही कर्म उपयोगी होता है। जैसे, पहाड़पर अथवा नदी किनारे पर्यटन करना, इसमें शरीरको लाभ होता है, परंतु उसके साथ ही मनमें भी अनेक कल्पनाएँ उठती हैं और उनमें मग्न होकर मनको आनन्द मिलता है और कठिन मानसिक परिश्रमसे जो मानसिक थकावट होती है, वह दूर होती है। परन्तु बहुत-से ऐसे मानसिक आनन्दकी वस्तुएँ होती हैं, जिनका विशेष सम्बन्ध मन और बुद्धिसे है, जैसे संगीत, कविता, चित्रकारी इत्यादि। इन मानसिक स्वास्थ्यके पदार्थोंमें जो सुख मिलता है, वह शारीरिक स्वास्थ्यके द्वारा जो सुख मिलता है, उससे कहीं अधिक बढ़कर और स्थायी होता है, उसी प्रकार जैसे मानसिक भोजन अर्थात् ज्ञान प्राप्त करनेमें (जिसको हमने चौथी आवश्यकता बतलाया है) जो आनन्द मिलता है, वह उस आनन्दसे बढ़कर और स्थायी होता है, जो शरीरकी रक्षाके निमित्त भोजन करनेमें होता है। सारांश यह कि शारीरिक और मानसिक आनन्द-प्रमोद मनुष्यकी पाँचवीं आवश्यकता है और इसमें धन लगाना उपयोगी है।

उपर्युक्त धनके उपयोगोंमें सब ऐसे हैं, जिनमें धन नष्ट (बुरे अर्थमें नहीं, किन्तु केवल काममें आकर न रह जानेके अर्थमें) होता है और जैसा हम कह आए हैं, धन इसीलिए है और उसका सुख इसीमें है कि उसे 'नष्ट' यानी

खर्च या व्यय किया जाए, परन्तु धन खर्च होनेके लिए धनकी स्थिति चाहिए—अर्थात् धनका उपार्जन चाहिए। इसी कारण धनके उपार्जनमें धन लगानेको हमने धनका तीसरा उपयोग बतलाया है। यदि मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपना स्वास्थ्य और अपनी स्थिति रख सकता, तो पूर्वोक्त तीसरी उपयोगितामें एक बार धन लगाकर कदाचित यह निश्चित हो जाता और आवश्यकताके अनुसार धन पैदा कर अपने काम किया करता, परन्तु वास्तवमें मनुष्यके स्वास्थ्य अथवा उनकी आयुके सम्बन्धमें स्थिरता नहीं है। आज मनुष्यका स्वास्थ्य अच्छा है और वह शक्तिवान् है, तो धन उपार्जनके लिए परिश्रम कर सकता है। कल रोगग्रस्त है, बुढ़ापा आ गया, कठिन परिश्रमकी शक्ति नहीं रह गई, परन्तु आवश्यकताएँ वैसी ही हैं। अपने लिए और कुटुम्बके लिए धन अवश्य चाहिए। इस कारण जिस समय मनुष्य परिश्रम कर धनोपार्जन कर सकता है, उसके धनका छठाँ उपयोग धनका इकट्ठा करना है। ऊपर कहे हुए पाँचों उपयोगोंका सम्बन्ध न केवल अपनेसे ही है, वरन् उनसे भी है, जिनके सुखसे मनुष्य सुखी होता है और जिनका पालन वह अपना धर्म समझता है।

धनका ऐसा उपयोग कि जिसमें उसकी आवश्यकता पड़नेपर और उपार्जनके अभावमें, दुःख न हो, सुखका बढ़ानेवाला है और कुछ अंश तक आवश्यक भी है, परन्तु जिस प्रकारसे अन्य आवश्यकताओंमें धनकी उपयोगिताकी प्रत्येक पुरुषके लिए अवस्था-मैदानानुसार सीमा है, उसी प्रकार धन इकट्ठा करनेमें अथवा इस नीयतसे उसको कहीं लगानेमें, जिसमें आवश्यकता के समय मिल जाए, धनकी उपयोगिताकी सीमा है।

अब देखना है कि किस सीमा तक धन इकट्ठा कर मनुष्य किस प्रकारसे अपनी आवश्यकताओंसे बचनेवाले धनको लगावे, जिसमें उसको सबसे अधिक सुख हो? जब कोई मनुष्य धन इकट्ठा करनेकी इस अवस्था तक पहुँच जाता है, तब प्रायः यह देखा जाएगा कि वह आगे अपने पास बचनेवाले धनके कुछ अंशको उपर्युक्त आवश्यकताओंमेंसे ऐसे कार्योंमें लगावेगा जो बिना हानिकारक हुए और सुख पहुँचाते हुए बढ़ाए जा सकते हैं, जैसे विद्याके उपार्जनमें, परन्तु बचनेवाले धनका बहुत थोड़ा अंश प्रायः इस प्रकार वह लगा सकेगा। शेषकी

उपयोगिता इसीमें होगी कि वह अन्य मनुष्यकी [illegible]ों पूरी करनेमें लगाया जाए। इस प्रकार धन लगानेमें एक ऐसा अकथनीय आनन्द होता है, जिसका स्वाद साधारण रीतिसे प्रायः सब ही मनुष्य जानते हैं; किन्तु अच्छे प्रकारसे सहृदय पुरुष ही उसका सुख उठा सकते हैं। वास्तवमें मनुष्यकी सातवीं आवश्यकता यह है कि वह अन्य लोगोंके सुखके लिए यत्न करें और धनकी भी बहुत बड़ी उपयोगिता प्रत्येक मनुष्यके लिए इसीमें है कि वह एक सीमाके परे, दूसरोंके लाभ और सुखके लिए अपना धन लगावे और इस प्रकारसे स्वयं धनके द्वारा सुख प्राप्त करे।

यहांपर मैंने जो कुछ लिखा है वह केवल स्वार्थ अर्थात् अपने सुखके भावसे है — धर्म और पुण्यके विचारसे इसका सम्बन्ध नहीं। और न महान् पुरुषोंकी शैलीकी मैंने व्याख्या की है, क्योंकि ऐसे पुरुषोंके हृदयोंमें 'अपने' सुखका विचार नहीं होता। वहाँ धनकी अधिक-से-अधिक उपयोगिता देश व संसारके सुखके भावमें देखा जाता है। महान् पुरुषोंके हृदय दूसरोंके दुःखको देख ही नहीं सकते। यदि उनके पास दूसरोंके दुखको दूर करनेकी कोई शक्ति है तो वे 'अपना' आगा-पीछा नहीं देखते, वे 'अपनी' आवश्यकताओंका ब्यौरा नहीं फैलाते। उनको आनन्द इसीमें आता कि वे दूसरोंकी सहायता कर सकें और औरोंको सुखी देखने ही में उनका सुख है। साधारण लोग भी थोड़ा-बहुत इस सुखका कभी-कभी अनुभव करते हैं।

* * *

४ भारतीय संस्कृति और कुम्भ मेला

*

कुम्भ मेला भारतीय संस्कृतिका एक अंग है। प्रयागमे त्रिवेणी—गंगा, जमुना और सरस्वतीका संगम है। यह स्थल बड़ा पवित्र है। प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इसी संगम-क्षेत्रमे तपस्चर्या की थी। प्राचीन ग्रन्थोंमे इसकी पवित्र महिमाका वर्णन बड़े भावपूर्ण ढंगसे किया गया है। प्रयागमें १२ वर्षमें कुम्भ तथा ६ वर्षमें अद्र्ध कुम्भका मेला लगता है। इसी प्रकार अन्य तीर्थोमें भी कुम्भ मेला परम्पराके अनुसार यथा समय होता रहता है। यह मेला भारतीय जनताकी मनोभावनाका प्रतीक है। इस मेलेमें आने तथा त्रिवेणीमें स्नानके लिए भारतके ही नहीं, विदेशोंसे भी लाखों नर-नारी बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे आते है। किसीको यहाँ आनेका निमन्त्रण नहीं दिया जाता। भारतीय संस्कृतिकी भक्ति और श्रद्धासे व्याप्त यह भावना है, जो मानव-हृदयकी पवित्रताकी द्योतक है। किन्तु आज कल देशमें पश्चिमका प्रभाव अधिक व्यापक हो रहा है। भक्ति और श्रद्धामे गिरावट आती जा रही है। भारतीय संस्कृतिको पश्चिमी नकलसे बचाना है।

हमारे सामने आज दो रास्ते हैं, जो भयावह हैं, डरके रास्ते है। मैं भारतीय संस्कृतिका उपासक हूँ, परन्तु भारतीय संस्कृति को दो रास्तोंसे

बचाना है। एक रास्ता वह है जिसपर हमारे पश्चिमकी नकल करनेवाले भाई चलते हैं। पश्चिमी ढंगकी चीजोंको, रीति-रिवाजको, उनकी भाषाको अपना कर पश्चिमकी नकल करना या उसकी प्रतिलिपि बनाना—यह हमारे देशको शोभा नहीं देता। मैं इसका रूप नई दिल्लीमें देखता हूँ। देशको नई दिल्लीका मानसिक रूप नहीं देना है, क्योंकि यह भी एक मूढ़ग्राह है। यह मत समझिए कि मूढ़ग्राह, सुपर्स्टिशन, बेपढ़े-लिखे लोगोंमें ही होता है। अँग्रेजीदाँ लोगोंमें मुझे बड़ा गहरा सुपर्स्टिशन दिखाई देता है। वे मरे हुए हैं। मूढ़ग्राह युक्त हैं। कपड़े पहिननेका मूढ़ग्राह है कि ऐसे कपड़े पहिनेंगे तो हमारी ज्यादा इज्जत होगी। खाने-पीनेमें, रहन-सहनमें मुझे सुपर्स्टिशन दिखाई देता है। उस मूढ़-ग्राहसे हमें देशको बचाना है। भारतीय संस्कृतिकी रक्षा हमें करनी है। इसका मतलब यह नहीं कि हम अच्छी बातोंको भी विचारपूर्वक न लें।

मेरी मान्यता है कि हमारा देश बौद्धिक रहा है। मैं इसपर बल देता हूँ। बहुतसे अंग्रेज इतिहासकारोंने कहा है कि हमारे यहाँ परिपाटीको पूजनेवाले बहुत हैं। कंजर्वेटिज्म बहुत है। इसमें आंशिक सत्य है। पूरा सत्य नहीं है। हमारा देश अपने आन्तरिक तत्वमें बौद्धिक रहा है, बुद्धिका पुजारी रहा है। बुद्धिके ऊपर उसने किसी किताबको नहीं रखा है "यो बुद्धेः परतस्तु सः।" बुद्धिके ऊपर केवल ईश्वरको माना है। ईश्वरके बाद संसारमें बुद्धि ही तत्व है। मैं बुद्धिवादी हूँ। बुद्धिके ऊपर सब पुस्तकोंको, ट्रैडिशन्सको, नापने-तौलनेके लिए तैयार हूँ। यही हमारे यहाँका क्रम प्राचीनोंका था। हाँ, दो-चार-पाँच सौ वर्ष पहिले एक अन्धेरी रात आई हमारे देशमें, उसमें हमने इन मूढ़ग्राहों और परिपाटियों और ट्रैडिशन्सको पूरी तरहसे पकड़ा। परन्तु हमारा देश अपने मार्गोंको बदलनेमें, परिपाटियोंको सुधारनेमें पीछे नहीं रहा है। हमारे देशका ही एक वाक्य है—वैसा संसारमें और कहीं मैंने नहीं सुना! कथा है जब यास्क मुनिके शरीर छोड़नेका समय आया तब उनके चेलोंने उनसे पूछा,—"महाराज, आप जाते हैं, अब वेदोंका अर्थ कौन करेगा?" ध्यान रखिए वेदोंका? यास्क मुनि निरुक्तके कर्त्ता है। निरुक्त वह शास्त्र है, जो वेदोंके शब्दोंको सामने रखता है और उनका अर्थ निकालता है। चेलोंने पूछा, —"अब आप जा रहे हैं तब वेदोंका अर्थ कौन करेगा? हम लोग

किस ऋषिके पास जाएँ ? यास्कने-जवाब दिया 'तर्को वै ऋषिरुक्त।' इसका क्या अर्थ है ?" तर्क—लाजिका, सिलोजिज्म, यही ऋषि हैं, वेदोंका अर्थ करनेके लिए।" यह वाक्य था कि तर्क ही ऋषि है। तर्कका मतलब बुद्धि. क्योंकि तर्कका सहारा तो बुद्धिके बिना चलता नहीं। बुद्धिको ही ऋषि बनाना—यह वाक्य हमारे देशकी पुरानी परिपाटीको बताता है। हमारा देश बुद्धिवादी रहा है। परिपाटियोंका दास नहीं। परिपाटियाँ अवश्य बनती हैं। किस देशमें नहीं है। आज क्या अमरीका और इंग्लैण्ड परिपाटियोंसे बँधे नहीं हैं ? बहुत जगह परिपाटियोंकी बहुत गुलामी रहती है। अगर बुद्धि भी साथ हो तो वे ठीक होती रहती हैं। हमारे यहाँ परिपाटियाँ चलती हैं, लेकिन बौद्धिकता पुराने समयसे समाजपर प्रभाव डालती रही है।

आज हमें जहाँ एक ओर पश्चिमी नकलसे बचना है, वहाँ अपने देशकी परिपाटियोंका भी, जो कि धर्मके नामपर चलती हैं, विश्लेषण करना है। "यह माघ मेला" किसीने यहाँपर कहा था, मैं उनका आदर करता हूँ "श्रद्धा और भक्तिका सूचक है।" मैं प्रयागका रहनेवाला हूँ। गंगासे मेरा गहरा प्रेम है। लेकिन मेरा गंगासे मूढ़ग्राह नहीं है। गंगामें बड़े-बड़े घड़ियाल रहते हैं, कोकोडाइल रहते हैं ? क्या वह वहाँ बुद्धि-श्रद्धासे रहते हैं ? नहीं। मल्लाह दिन भर गंगामें रहता है। मेरे मनमें गंगाकी उपासना इसलिए है कि गंगाके किनारे तपस्वियोंने तप किया था। गंगाका जल पवित्र है। परन्तु इस भेड़ियाधसानको, एक छोटी-सी जगहमें जहाँ संगम है, जहाँ हजारों आदमी एक-साथ स्नान करें, प्रोत्साहन देना उचित नहीं है। यह बुद्धिके विरुद्ध है। मैं इसको भारतीय संस्कृतिका विरोधी समझता हूँ। जो लोग इस प्रकारकी तबियतको प्रोत्साहन देते हैं, वे सही नहीं करते हैं, वे भारतीय संस्कृतिकी रक्षा नहीं करते।

वास्तविकता यह है कि हमें इन दोनों भयावह रास्तोंसे बचना चाहिए। एक ओर पश्चिमी नकल और दूसरी ओर अपने यहाँकी सब रीतियोंको बिना समझे-बूझे प्रोत्साहन देना। हमारी संस्कृति प्राचीन है, लेकिन बौद्धिक है। जिस तरहका हमारा यह मेला है, इस तरहके मेले मुसलमानोंमें भी चलते हैं। हिन्दुओंके जो मेले चलते हैं उनमें श्रद्धावान बहुत थोड़े आते हैं। प्राचीन

समयसम यह इसलिए होते थ, कि वहा अच्छे लोग इकट्ठा होते थे। अच्छे विचार करते थे। आज भी विचारके लिए कुछ थोड़ी-सी सभाएँ होती हैं। वह ठीक है, वहाँ लोग जाएँ। हमारी प्राचीन मर्यादाके अनुसार सत्य और तप भारतीय संस्कृतिके मुख्य अग है। जहाँ तप और सत्य नहीं है, वहाँ भारतीय संस्कृति नही है।

धर्मका आधार मुक्ति हैं। भारतीय संस्कृतिको विना समझे-बूझे कीचड़में नहीं घसीटना चाहिए। भारतीय संस्कृति मूढ़ग्राहों या सुपर्स्टिशनका बंडल नहीं है। जो भारतीय संस्कृतिको नही समझते, वे उसकी समय-समयपर बुराई कर देते हैं। वे लोग भी उसको गलत समझते है, जो उसे अन्धविश्वासोंका बंडल समझते हैं। भारतीय संस्कृति बौद्धिक है। बुद्धिके ऊपर निर्भर है। जहाँ बुद्धि नहीं, वहाँ युक्ति नहीं, वहाँ भारतीय संस्कृति नहीं, वहाँ धर्म नहीं। बृहस्पतिस्मृतिका एक वाक्य याद आ गया।

केवलम् शास्त्रमाश्रित्य, न कर्तव्यो विनिर्णयः।

केवल किताबोंका, जिसको शास्त्र कहते हैं, सहारा लेकर धर्मका निर्णय नहीं हुआ करता।

"युक्तिहीन विचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥"

जहाँ बुद्धि नही है, युक्ति नहीं है, ऐसे विचारसे धर्मकी हानि होती है। चाहे वे हिन्दू हों, चाहे मुसलमान हों, चाहे इसाई हों। जो धर्म युक्तिपर आधारित नहीं है, वह धर्म कहलाने योग्य नही है। भारतीय धर्म बौद्धिक है और युक्तिपर निर्भर है।

* * *

५. भाषाकी उत्पत्तिका रहस्य

※

हिन्दी-भाषाकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, किस वाणीके महास्रोतसे उसकी धारा बहती हुई हम तक आई, मार्गमें किन पर्वतों और वनोंके प्राकृतिक रत्नोंको अपने साथ लेती और कहाँ-कहाँ उनको छितराती आई है, अथवा किस प्रकारसे उसने अपने निर्मल जलके कूलोंपर कुंज-लताएँ पोषित कर और उन कूलोंके निवासियोंको अपने पवित्र जलसे मानसिक जीवनदान दे, उन्हें सभ्य बनाया है, इसकी चर्चा आपको कतिपय खोज सम्बन्धी ग्रन्थोंमें मिलेगी। यह विषय जितना रोचक है, उतना ही गम्भीर है। आर्योंका आदिम स्थान कहाँ था? आर्योंका आदिम स्थान क्या भारतवर्षके बाहर था? क्या उसी स्थानसे उनकी कई शाखाएँ पूर्व और पश्चिमकी ओर निकल कर फैलीं, और वह जहाँ-जहाँ गए, अपने साथ अपने आदिम स्थानकी प्राचीन आर्यभाषा लेते गए, जिसके ही कारण यूरोपकी भाषाओं— जैसे यूनानी, लैटिन, अंग्रेजी, फ्रेन्च, जर्मनी— में भी आज हमारे देशके कुछ आदि शब्दोंसे समानता दिखाई पड़ती है, अथवा क्या भारतवर्षसे ही सभ्यता और भाषाकी लहर पश्चिमीय देशोंमें गई? इस विषयपर इतिहास और भाषाके उच्च-कोटिके पण्डित पिछले लगभग अनेक वर्षोंसे विचार करते आए हैं, और अब भी यह नहीं कहा जा

सकता कि इन विचारोंका अन्तिम निष्कर्ष निकल चुका है। मनुष्यकी परिमित शक्तिको देखते हुए यह कहना भी कठिन है कि उसका निकाला हुआ परिणाम कभी भी निश्चयात्मक हो सकेगा। प्रकृति अपने रहस्योंको इस प्रकारसे छिपाकर रखती है कि मनुष्य चाहे उसका एक कोना देखकर आनन्द उठा ले, किन्तु किसी बड़े अंशको अच्छी तरह निरीक्षण कर पाना विधाताने उसके भाग्यमें नहीं लिखा है। अर्जुनका-सा ही कोई कृष्णका प्रेमपात्र हो, तभी क्षणभरके लिए उसे वास्तविक दशाका दर्शन हो जाता है और तब उसके मुखसे यही शब्द निकलते हैं :—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे, सर्व्वांस्तथा भूत विशेष संघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
अनेक बाहूदर वक्त्रनेत्रं, पश्यामि त्वां सर्वतोनन्त रूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं, पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वत धर्मगोप्ता, सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्त हुताश वक्त्रं, स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥
द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि, व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं, लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥

. . . .

यथा नदीनां बहवोम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा, विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति, लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

—गीता, ११ अध्याय।

ईरानी भाषाएँ, जैसे परजी, जिसमें पहलवी और फिर पहलवीसे फारसी निकली, और मीदी, जिसमें पारसियोंका धर्मग्रन्थ 'जेंद अवस्ता' लिखा गया है— इनका पुरानी संस्कृत और प्राकृतसे कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, यह भी भाषा-तत्वके जिज्ञासुओंके लिए बहुत रोचक विषय है। यह तो स्पष्ट ही है कि संस्कृत और अवस्ता और पुरानी फारसीका सादृश्य आकस्मिक नहीं है।

अवस्ताकी भाषा फारसीके समान दाहिनी ओरसे बाईं ओरको लिखी जाती है किन्तु उसकी लिपि बिल्कुल भिन्न है और उसके अक्षर एक-दूसरेसे अलग नागरी लिपिके समान लिखे जाते हैं। उनमें और नागरी लिपिमें इतना विशेष अन्तर अवश्य है— जो अन्तर स्वयं हमारी कुछ पुरानी और आधुनिक लिपियोंमें है— कि अवस्तामें स्वरोंके स्थानमें मात्रा चिह्न न होकर अलग-अलग अक्षर हैं। यदि अवस्ताके छंदोंको आप उठाकर पढ़े, तो आपको यही जान पड़ेगा कि हम वेदोंके छंदोंके कुछ विचित्र रूपका पाठ कर रहे हैं। आज भी हमारे देशके पारसी भाइयोंमें अवस्ताका वही स्थान है, जो हिन्दुओंमें वेदोंका। मुझे अपने पारसी मित्रोंके कुछ विवाहोत्सवोंमें सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके वैवाहिक संस्कारके समय जब मैंने ईश्वरोपासना सम्बन्धी छंदोंका उच्चारण सुना, तब मुझे यही जान पड़ता था कि मानों वेदोंके अपरिचित छंदोंका कोई विचित्र परिवर्तन कर गान कर रहा है। मैं कुछ छंद नीचे उद्धृत करता हूँ :—

यश्न नामक भागके दसवें अध्यायका छठा मन्त्र इस प्रकार है :—

तम् अमवंतम् यज़तम्
सूरम् दामोहू सविष्टम्
मिथ्रम यज़आइ ज़ब थ्राब्यो ॥

तनिक इस मन्त्रपर विचार कीजिए, देखिए इसके एक-एक शब्द संस्कृतमें किस प्रकार लिखे जा सकते हैं :—

तम् अमवंतम् यजतम्
शूरम् धेमसु शविष्टम्
मित्रम् यजाइ होत्राभ्यः

अर्थात्, बली शूरवीर मित्रदेवकी होत्रसे पूजा करता हूँ, जो सब जन्तुओंपर दया करता है।

'ज़ेन्द अवस्ता' में दो प्रकारकी भाषा स्पष्ट दिखाई देती है। एक तो यासना (यज्ञ) विभागमें दी हुई पाँचों गाथाओंकी, जिनके नाम ये हैं :—

अहुनवैति, उष्टवैति, स्पन्तामैन्युष, वहिष्टाइहि और वोहुक्षत्र।

दूसरे प्रकारकी भाषा 'खुर्द अवस्ता' तथा अवस्ताके अन्य भागोंमें पाई जाती है। गाथाओंकी भाषाके सम्बन्धमें कुछ भाषा तत्वविदोंका विचार है

कि वह वेदोंकी भाषाके समान प्राचीन है उध्दृत गाथामेंसे दो छंद मैं नीचे उद्धृत करता हूँ जो पारसियोंके आदि पुरुष भगवान् जरतुश्तके ही कहे हुए माने जाते हैं :—

अत् प्रवक्ष्या नू गूशोद्वम् नू सवोता ।
य एचा अस्नात् य एचा द्वरात् इषथा ।
नू ईम वीस्पा चियूरी मज्द न्होद्गम्,
नोइत् देबितीम् दुशसीस्तश ।
अहूम मेरश्यात् अकावरना द्रग्वाँ हिज्वे आवरतो ॥१॥
अत् प्रवक्ष्यां अन्हउश मइन्यू पोउरुये ।
ययाँस्पन्यँ उडति भवत् यम् अंग्रम् ।
नोइत् नाम नै नोइत् संघानोइत् खतवो ।
न, एदा वरना नोइत् उरवधा न यहाश्यवथना
नोइत् द एनै नोइत् उर्वनो हचइते ॥२॥

इसका अनुवाद, जो अवस्ता भाषामें वहाँके पण्डितोंने किया है, यह है :—

"अब मैं कहूँगा, और तुम कान देकर सुनो ।
जो यहाँ पाससे और दूरसे आए हो ।
तुम इन बातोंको चित्तमें स्पष्ट धर लो ।
दुष्ट उपदेशकोंसे अपना आगामी जीवन नष्ट मत कराओ ।
और न पतित पापीके झूठे-के-झूठे विश्वाससे अपनी जिह्वाको ॥१॥

अब मैं जगत्की दो प्राथमिक आत्माओंका कथन करूँगा । जिनमेंसे पवित्र (आत्मा) ने दुष्ट (आत्मा) से कहा :—

न हमारे मन, न हमारी शिक्षा, न हमारे विचार
न हमारे विश्वास, न हमारे शब्द, न सचमुच हमारे कर्म,
न हमारी बुद्धि और न आत्माएँ किसी बातमें मिलती हैं ॥२॥

भाषा-विज्ञानके सौभाग्यसे आज वेदोंके अतिरिक्त अनेक प्राचीन-ग्रन्थ हमें उपलब्ध हैं । यदि इसी प्रकारसे अन्य भाषाओंके प्राचीन और प्राचीनतम स्वरूप हमें हस्तगत होते तो भाषाओंके शृंखलाबद्ध तारतम्यसे हम प्राचीन घटनाओंका कुछ निश्चित रूपसे निरीक्षण कर सकते । अवस्ताके और प्राचीन संस्कृतके स्वरूपको देखकर न केवल उनके साधारण शब्दकोष किन्तु उनके

नी भादेश्यका झलक देखकर क्या परिणाम निकलता है ? न केवल वैदिक 'आदमन' अवस्ताका 'एयमन' है, 'वायु' 'वयु' 'दानव' 'दान' और 'असुर' 'अहुर' है, किन्तु संस्कृत द्वितीयाके रूप, 'शूरम्' 'मिथ्रम' और पञ्चमीके रूप 'अननात्' 'दूरात्' दिखाई पड़ते हैं, और कुछ संस्कृत सर्वनाम— मे, मन, त्वम्— अवस्तामें भी उन्हीं रूपोमें दिखाई पड़ते हैं। संस्कृतके समान ही अवस्तामें भी तीन लिङ्ग और तीन वचन पाए जाते हैं। संज्ञा और विशेषणकी आठ विभक्तियाँ भी स्पष्ट दिखाई देती हैं। अवस्ता और संस्कृतके धातु रूपोंमें भी समानता है। छन्द भी वैदिक छन्दोंसे मिलते-जुलते दिखाई पडते हैं। यह मिलान आकस्मिक नहीं हो सकता। यह अवश्य दोनों भाषाओंका सम्बन्ध स्थापित करता है।

इसी प्रकार पुरानी फारसी और संस्कृतकी समानता आश्चर्यजनक है। विचारके साथ यदि आप आधुनिक फारसी भी पढ़ें और उसमें अरबीसे आए हुए बहुसंख्य शब्दोंको अलग कर दें, तो पग-पगपर आपको ऐसे शब्दोंकी भरमार मिलेगी, जिनके रूप-रंगमें संस्कृत शब्दोंकी ही वंशकृति दिखाई पड़ती है। फारसीका पंडित न होते हुए भी फारसीके प्राचीन काव्योंके पढ़ते समय मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि अरबीके शब्द छोड़ दिए जाएँ तो शेष शब्दोंमें लगभग पचास फी सदी इस समय ऐसे मिलते हैं, जिनका रूपान्तर आप संस्कृत शब्दोंमें देख सकते हैं।

हमारे देशकी प्राचीनतम भाषाका वैसा संकुचित क्षेत्र न था, जैसा समय पाकर धीरे-धीरे हो गया, वरन् उसका नैसर्गिक घनिष्ट सम्बन्ध संसारकी अन्य शिष्ट भाषाओंसे था। यह सम्बन्ध कैसे हुआ और किस प्रकारका था, अन्य देशकी भाषा भारतवर्षमें आई अथवा भारतवर्षकी भाषा अन्य देशोंमें गई, यदि आई तो किन-किन मार्गोंसे और किसके साथ, यदि गई तो कैसे और किसके द्वारा और जहाँ गई, वहाँकी पहिलेकी भाषामें उसने किस-किस प्रकार परिवर्तन किया, प्राचीन संस्कृतका अन्य प्राचीन भाषाओंके साथ बहिनोंका अथवा माता-पुत्रीका नाता है, इत्यादि ऐसे प्रश्न बड़े रोचक और आकर्षक हैं। इनपर बड़े-बड़े भाषातत्त्वज्ञोंने विचार किया है, किन्तु अब भी बहुत अन्वेषण और विचारकी आवश्यकता है।

आज प्रश्न यह है कि हमारी प्राचीनतम भाषाका क्या रूप था, उसके संस्कृत होनेमें क्या परिवर्तन हुए, इस परिवर्तनने किस प्रकार साधारण भाषापर अपना प्रभाव डाला और यह परिवर्तित भाषा किसी श्रेणी विशेषकी भाषा ही रही, अथवा कभी भी जनताकी बोलचालकी भाषा बनी? और हमारी प्राचीन भाषा और इस संस्कृत भाषाने किस प्रकार धीरे-धीरे अन्य भाषाओंको उत्पन्न किया, जिनसे समय पाकर आधुनिक भाषाएँ निकली? इस विषयके सम्बन्धमें दो मुख्य विचार हैं। एक तो यह कि पाली और अन्य प्राकृत भाषाएँ, जिनसे आधुनिक भाषाएँ निकली हैं, संस्कृतकी पुत्री थीं, अर्थात् संस्कृत भाषा ही भ्रष्ट होकर प्राकृत बनी और प्राकृतके अपभ्रंशसे धीरे-धीरे आजकलकी भाषाएँ निकलीं।

दूसरा मत यह है कि संस्कृत कभी साधारण बोलचालकी भाषा नहीं थी, अथवा थी तो केवल शिष्ट और शिक्षित समुदायकी, और साधारण लोगोंकी भाषा आदि-समयसे ही भिन्न थी, इस कारणसे प्राकृत भाषाएँ संस्कृतसे नहीं, किन्तु प्राचीन प्राकृतसे ही निकली हैं। अथवा यों कहा जाए कि प्राचीन भाषा, जिसे मूल प्राकृत कह सकते हैं, समयके प्रभावसे धीरे-धीरे उन रूपोंमें परिवर्तित हुई, जो संस्कृत और पालीके ग्रन्थोंमें पाए जाते हैं और उन्हींसे आधुनिक भाषाओंका विकास हुआ। पहले पक्षके प्रकृष्ट पोषक हमारे देशके प्रकाण्ड विद्वान् रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर हैं। इसी पक्षका श्रद्धेय बदरी-नारायण चौधरीने समर्थन किया था। दूसरे पक्षमें विल्सन, वेबर, बीम्स आदि संस्कृतके पाश्चात्य विद्वान् संगठित हैं। पं. महावीरप्रसाद द्विवेदीकी 'हिन्दी भाषाकी उत्पत्ति' नामक पुस्तिका देखनेसे अनुमान होता है कि वे भी इसी सिद्धान्तके पोषक हैं, किन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि इस विवादमें संस्कृत शब्दके अर्थपर ही सत्यका निर्णय निर्भर होगा। यदि संस्कृतका अर्थ केवल उस भाषासे लिया जाए, जिसमें हमारी प्राचीन सभ्यताका उत्तुङ्ग उत्कर्ष ढले हुए शब्दोंमें दक्ष चितेरोंकी कूँचीसे चित्रित है, और जिसने सैकड़ों वर्षके संस्कारके बाद पतंजलि और कात्यायनके समयमें अपना रूप निश्चित किया, तो मुझे भी यह कहना पड़ेगा कि इस भाषासे प्राकृत और हिन्दीका प्रादुर्भाव नहीं हुआ। संस्कृत शब्दसे यही अर्थ प्रायः उन लोगोंने समझा है जिन्होंने इस मतका पोषण किया है। एक अंशमें उनका यह अर्थ करना ठीक

भी है, क्योंकि संस्कृत शब्द भी उसी भाषाका बोधक है और साधारणतया उसी अर्थमें प्रयुक्त भी होता है। किन्तु यदि संस्कृत शब्दमें उन समस्त बोलियोंका समावेश हो, जो ऋग्वेदकी ऋचाओं और तत्पश्चात् ब्राह्मणोंके समयमें बोली जाती थीं और जिनमें स्वभावतः न केवल शिष्ट किन्तु ग्रामीण तथा अशिक्षित जातियोंके भी शब्द सम्मिलित थे और आपेक्षिक दृष्टिसे जिसका प्रचार बहुत पीछेके काल तक होता आया अर्थात् जो सहस्रों वर्ष इस देशमें रूपांतरित हो पतञ्जलिके समय तक बोली जाती रही, तो अवश्य यह कहा जा सकता है कि संस्कृतसे ही आधुनिक एतद्देशीय भाषाएँ निकली हैं। मुझे तो यही अनुमान होता है कि संस्कृत भाषाकी परिभाषा यदि हम निश्चित कर लें,तो इस विवादका निराकरण हो जाए। आप स्वयं तनिक विचार तो कीजिए कि क्या यह कभी सम्भव था कि जब बोलचालकी भाषाका संस्कार कर संस्कृत भाषा बनी, तब क्या वह संस्कृत समस्त जनताकी कभी बोलचालकी भाषा हो सकती थी, और क्या प्रचलित भाषाका संस्कार होते ही वह उस नई भाषामें तल्लीन होकर लुप्त हो गई? उन पाश्चात्य विद्वानोंका, जो प्रायः संस्कृतसे प्राकृत भाषाओंका प्रादुर्भाव नहीं मानते, यह मत है कि संस्कृत एक प्रकारकी अप्राकृतिक भाषा यज्ञ पूजन आदिके कामके लिए ब्राह्मणोंने निर्माण की थी और वह कभी बोल-चालकी भाषा हुई ही नहीं, उसमें केवल गौरवके लिए शिष्ट समुदायने ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। भाण्डारकरजीने इस मतका खण्डन बड़ी विद्वत्तासे अपने प्रसिद्ध 'भाषा तत्व सम्बन्धी व्याख्यानों' में किया है, और मेरी भी अल्प बुद्धि उनकी इस विषयकी दलीलोंको स्वीकार करती है। किन्तु एक बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि इस बातके दिखलानेके लिए कि संस्कृत भाषाके साथ-साथ बोलचालकी साधारण भाषा कोई अन्य थी, पाश्चात्य विद्वानोंके इस मतसे सहमत होना आवश्यक नहीं कि संस्कृत एक अप्राकृतिक रीतिसे वैसे ही निर्मित भाषा थी जैसे कुम्हारके चाकसे निकला हुआ कुम्भ, जो केवल यज्ञकी वेदीपर रखनेके लिए बनाया गया हो। यह क्यों असम्भव समझा जाए कि वास्तवमें जो प्रचलित बोलियाँ बोली जाती थीं, उनमें हीसे एक प्रकारकी आदर्श भाषा स्वाभाविक रीतिसे शिष्ट समाजमें प्रचलित हुई और उसीसे, व्याकरणके मन्त्रोंसे संस्कार करनेके पश्चात् संस्कृत बनाई गई। इस प्रकारसे भाषा बनने और पाश्चात्य विद्वानोंके मतानुसार यज्ञ पूजनादिके

लिए भाषा बननेमें बड़ा अन्तर है। मुझे तो यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सदा एक देश अथवा राष्ट्रमें बहुत-सी स्थानीय बोलियाँ रहते हुए भी एक खिचरी भाषा कुछ ऐसी होती है, जिसमें साधारण जनता अपने मनोभावका लेन-देन करती है, उसी प्रकार प्राचीन समयमें भी या तो छोटेसे आर्य समुदायमें एक ही बोली थी अथवा भिन्न-भिन्न समुदाय और उनकी भिन्न-भिन्न बोलियाँ होनेपर भी उनकी एक भाषा इस प्रकारकी रही, जो बोलियोंसे तो भिन्न थी, किन्तु जिसमें बोलियोंका समावेश होता था। आज भी यही दृश्य हम अपनी आँखके सामने देख सकते हैं। जिस भाषामें मैं लिख रहा हूँ, वह हमारे देशकी स्थानीय बोलियोंसे भिन्न है, किन्तु वह केवल शिष्ट-जनोंकी अप्राकृतिक नियमोंसे गढ़ी हुई भाषा नहीं कही जा सकती। ग्रामीण मनुष्य भी उस भाषाको पहचानता है और उसे अपनी भाषा कहता है, यद्यपि वह उसे उसी रूपमें व्यवहृत नहीं करता। हिन्दी साधारण ग्रामीण बोली न होते हुए भी किसी विशेष कार्यके लिए गढ़ी नहीं गई, वह पूर्णरूपसे और अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषोंसे बचते हुए जनताकी भाषा कही जा सकती है। हाँ, यदि हममेंसे कुछ चतुर विद्वान् इस भाषामें साधारणता और गौरव-न्यूनताका दोष देख इस प्रकारसे उसका शोधन करने बैठें कि उसमें आए हुए प्रचलित शब्दोंकी काट-छाँट कर व्याकरणके ऐसे अकाट्य नियम बनायें जिनको बिना सीखे कोई भी शिष्ट भाषा-भाषी न कहा जा सके, तो अवश्य ऐसी संस्कृत हिन्दीकी सूरत और दशा दूसरी ही हो जाएगी। मुझे अपने तात्पर्यको कुछ और स्पष्ट करनेकी आवश्यकता जान पड़ती है। मेरा यह विचार है कि आरम्भसे स्थानीय परिवर्तनोंके होते हुए भी आर्योंकी एक जीती-जागती साधारण भाषा थी, जो संस्कृत न होते हुए भी संस्कृतसे बहुत भिन्न न थी। यदि हम इसी भाषाको संस्कृत कहें तो संस्कृतसे ही पाली तथा प्राकृत भाषाओंका प्रादुर्भाव कहा जा सकता है और यह विवाद ही नहीं रह जाता कि प्राचीन प्राकृतसे मध्यकालीन प्राकृत निकली अथवा संस्कृतसे। इस सिद्धान्तानुसार मूल प्राकृत और संस्कृत एक ही वस्तुके दो नाम हो जाते हैं, किन्तु पीछेसे व्याकरणके नियमों द्वारा संशोधित हो शिष्ट समुदाय और ग्रन्थकारोंकी जो भाषा हुई, यदि केवल उसीका नाम हम संस्कृत रखते हैं, तो आर्योंकी यह प्राचीन भाषा मूल प्राकृत कही जा सकती है। इस भाषाका वेदोंकी भाषा तथा 'जेन्द अवस्ता' की

भाषासे भी बहुत सादृश्य रहा होगा। इसी प्रकार जनताकी भाषा संस्कार करते-करते संस्कृत बनी और ज्यों-ज्यों उच्च-कोटिके आर्य और साधारण जनतामें भेद होता गया, त्यों-त्यों संस्कृत साधारण जनताकी भाषासे, उसपर अपना प्रभाव डालती हुई भी, अलग होती गई। संस्कृत भाषाके निर्माणसे अथवा उच्च आर्योंकी चर्खीपर चढ़कर मँजे हुए स्वरूपमें उसके निकलनेसे यह तो सम्भव ही न था कि मूल भाषा अथवा प्राकृतका लोप हो जाता अथवा साधारण जनता इस रीतिसे मँजी हुई संस्कृत भाषाको बोलने लग जाती। संस्कृत भाषाको इस अर्थमें लेनेपर यह भाव उस अर्थ ही में प्रविष्ट है कि वह साधारण जनताकी भाषा न थी। ऐसी दशामें जनताकी जीती-जागती और चलती भाषा मूल प्राकृत ही रही और उसीके रूपोंमें धीरे-धीरे परिवर्तन होते हुए, वह माध्यमिक कालकी उन १८ प्राकृतोंमें विभक्त हुई, जिनकी चर्चा संस्कृत और प्राकृत साहित्यमें मिलती है। यदि हम हिन्दी भाषाकी धारापर ऊपरको चढ़ते जाएँ, तो हमें संस्कृतका स्रोत कहीं नहीं मिलेगा, किन्तु अपभ्रंश भाषा, फिर प्राकृत और फिर मूल प्राकृत तक हम पहुँच जाएँगे। संस्कृत स्वयं बहुत ऊँचेपर जाकर मूल प्राकृतसे निकलती हुई एक धारा दिखाई पड़ेगी, जो बहुत दूर तक प्रबल वेगसे बहती है, और अन्तमें ऐसे रेगिस्तानमें पहुँच जाती है, जहाँ उसका जल सर्वथा लुप्त तो नहीं हो जाता, किन्तु एक गहरे कुण्डमें गिरकर और इकट्ठा होकर आगे बढ़नेका सामर्थ्य खो बैठता है। परन्तु कुण्डमें गिरनेसे पहले उसकी प्रबल धारा अपनी बहुत-सी छोटी शाखाओंसे इधर-उधर भूमिको उर्वरा करती है और उनमेंसे कतिपय शाखाएँ फिर भाषाके मूल प्रवाहमें, जिसपर आप अपनी कल्पनामें चढ़ते हुए जा रहे हैं, आकर मिल जाती हैं। मैं जानता हूँ कि मेरी इस उपमापर कुछ सज्जन अप्रसन्न हो सकते हैं, किन्तु भाषाके प्रश्नपर विचार करते हुए, मेरा उनसे निवेदन है कि वे केवल तत्वपर ध्यान रक्खें। यह अवश्य है कि हम बहुत दिनोंसे सुनते चले आए हैं कि हिन्दी तथा देशकी अन्य भाषाएँ संस्कृतकी पुत्री नहीं कही जा सकतीं, किन्तु भाषाके मर्मज्ञोंको पक्षपातमें फँसनेसे बचना कठिन न होना चाहिए।

हिन्दी शौरसेनी प्राकृतकी पुत्री है, यह प्रायः सभी मानते हैं, किन्तु शौरसेनी मूल प्राकृतकी पुत्री है अथवा संस्कृतकी, इसीमें विवाद है और यह विवाद जैसा मैंने कहा है, प्रायः शब्दोंके अर्थमें स्पष्टता न होनेके कारण है।

संस्कृतको केवल संस्कार की हुई भाषा मान लेनसे हिन्दी प्राकृतके कुटुम्बमसे है, यही कहना पड़ेगा। उस परिष्कृत भाषाका रूपान्तर प्राकृत हुआ और उसमेसे हिन्दीका प्रादुर्भाव हुआ, ऐसा माननेमे मुझे नितान्त अस्वाभाविकता प्रतीत हुई। पण्डित बदरीनारायण चौधरीने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके तृतीय अधिवेशनके अध्यक्षीय भाषणमे, इस बातको पुष्ट करनेके लिए कि संस्कृतसे प्राकृतके द्वारा हिन्दी निकली, कुछ शब्दोंके उदाहरण दिए हैं, जिनसे संस्कृत शब्दका बिगड़कर प्राकृत बनना और प्राकृतका बिगड़कर हिन्दी बनना प्रकट किया गया है। यह दलील साधारणत: और भी विद्वानोंने दी है। इससे यह सिद्ध है कि संस्कृत और प्राकृत शब्दोका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्भव है कि इनमें बहुतसे शब्द संस्कृतसे बिगड़कर प्राकृत हुए हों। संस्कृत भाषा तो शिष्ट समुदायकी भाषा थी ही और उसका प्रभाव साधारण भाषापर पड़ना अथवा उसके कुछ शब्दोंका बिगड़ कर साधारण भाषामें आ जाना स्वाभाविक था, किन्तु सम्पूर्ण प्राकृत भाषाका संस्कृत भाषासे निकलना प्रमाणित नहीं होता। सम्बन्ध स्थापित होता है किन्तु मातृत्व नही। केवल उदाहरणोंसे मातृत्व मान लेना तर्कका दोष है, क्योंकि जो सम्बन्ध हमें दिखाई देता है, वह इस प्रकारसे भी हो सकता है कि जिन रूपोंको मॉजकर संस्कृतके रूप हमें ग्रन्थोंमे दिखाई देते हैं, उन्हीं आदि रूपोसे यह प्राकृतके रूप वंश-परम्परासे आए हों। और फिर हमें उन प्राकृत शब्दोंके समूहको न भूल जाना चाहिए, जिनका किसी प्रकार संस्कृत शब्दोंसे सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। ये शब्द न तत्सम है और न तद्भव, किन्तु देश्य हैं। कितने ही शब्द तो कुछ ऐसे ही शब्दोंसे वंश परम्परा बद्ध होकर आए है जिनकी उत्पत्ति संस्कृतके अतिरिक्त, जो साधारण बोलचालकी भाषा थी, उसीसे हो सकती है। ऊँघना, पेट, बाप कोट इत्यादि शब्दोंका मेल ढूँढनेपर ही किसी संस्कृत शब्दसे नहीं मिलता, इन शब्दोंके आदि रूप प्राकृतमे मिलते हैं। केवल इतना कह देनेसे ही, कि यह शब्द पीछेसे प्राकृतमे जुड़ गए होंगे, न इस विषयका समाधान होता है और न परिष्कृत संस्कृतसे प्राकृतका निकलना ही प्रमाणित होता है।

संस्कृत, प्राकृत और हिन्दीके पारस्परिक सम्बन्धको स्थिर करनेमें भाषाके विकासक्रमपर ध्यान देना आवश्यक है। इस संसारमें जीवन और मृत्युका कार्य-कारण सम्बन्ध है। जीव मृत्युसे [illegible] ही [illegible] है। यही
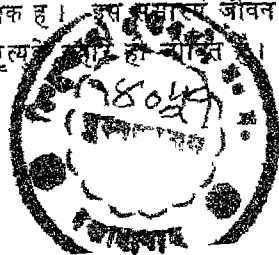
सिद्धान्त जीवित भाषाओंके सम्बन्धमें भी लगता है। जिस प्रकार हमारे शरीरमें प्रति दिन कितने ही जीवित कृमि मरते हैं और सहस्रों नए बनकर उनका स्थान लेते हैं और इसी अटूट संग्रामका नाम ही जीवन है, इसीप्रकार जीवित भाषामें भी शब्दोंका बिगड़ना और बनना प्रकृतिसिद्ध है। मरे हुए शब्दोंके शवसे नए शब्द उत्पन्न होकर भाषा प्रवाहमें तीव्र गतिसे तैरते हैं, और यदि इस प्रकारसे शब्दोंका बिगड़ना और नए शब्दोंका बनना बन्द हो जाए तो जीवधारीके शरीरके समान भाषाका शरीर भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् उसमेंसे प्रगति-स्वरूप जीव निकल जानेसे वह निर्जीव पत्थरके समान हो जाती है। इसीलिए गति-शून्य ऐसी भाषाओंको मृत भाषाएँ कहनेका जो चलन है, वह सर्वथा उपयुक्त है। मृत्यु और जीवन जहाँ बराबर है, वहीं वास्तविक जीवन है। जब तक भाषाके रूपोंका नाश बराबर होता रहता है, तब तक उसका विकासक्रम भी चलता रहता है। शारीरिक विद्याके जाननेवाले वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि हमारे शरीरके भीतर लगातार परिवर्तन होता रहता है, जितना ही हम शरीरको काममें लाते हैं उतना ही शीघ्र शरीरके तन्तुओंका नाश होता है और जितना ही शीघ्र इन तन्तुओंका नाश होता है उतने ही शीघ्र स्वस्थ और बलिष्ठ नवतन्तु उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार नाश और उत्पत्ति क्रमसे मनुष्य स्वस्थ रूपसे बलिष्ठ और जीवित रह सकता है। बच्चेको जितना ही आप दौड़ाते हैं, उतना ही उसके तन्तुओंका नाश करते हैं और उतने ही नए तन्तुओंकी सृष्टि करते हैं। इसी गतिसे उसके शरीरकी वृद्धि और पुष्टि होती है और जब तक उसमें जीवन है तब तक यही क्रम चला जाता है। विज्ञानवेत्ता हमें बताते हैं कि प्रत्येक सात वर्षमें शरीरके प्रत्येक तन्तुका परिवर्तन होता जाता है। यदि आप इस मोहसे कि बच्चेके शरीरके तन्तु नष्ट न हों, उससे शारीरिक काम न कराएँ और उसे प्रकृतिके आँगनमें कल्लोल करनेके लिए न छोड़ दें तो वह विकसित न होकर धीरे-धीरे मुरझा जाएगा। ठीक यही शैली जीवित भाषाके तन्तु-नाश और विकासकी होती है। प्रकृतिके आँगनमें खेलती और दौड़ती हुई भाषा अपने सैकड़ों तन्तुओंका प्रति दिन नाश करती है और उन्हीं नष्ट तन्तुओंके मसालेसे तथा प्रकृतिकी अन्य शक्तिसे नए शब्द-तन्तुओंका निर्माण करती रहती है। यदि आप इस भयसे कि कहीं भाषा शरीरके कुछ शब्द तन्तु विकृत अथवा नष्ट न हो जाए उन्हें

व्याकरणके नियमोंकी आशासे जहाँ-तहाँ बैठा दें तो परिणाम यही होगा कि धीरे धीरे शरीर कुम्हला जाएगा और वे अपरिवर्तनशील शब्द, जिनकी आपने रक्षाकी थी,जीवित शरीरसे अलग होकर स्तम्भित रूपमें आपको दिखाई पड़ेंगे। मेरी इस उपमामें कुछ अन्तर हो सकता है, किन्तु जिस सिद्धान्तको मैंने आपके सामने इस उपमा द्वारा उपस्थापित किया है, वह आप बराबर भाषाके विकासमें देखेंगे। संस्कृत भाषाके सम्बन्धमें भी मुझे तो यही भासता है कि साधारण जनताकी भाषासे उसे अलग करनेका ही यह परिणाम हुआ कि वह ठिठक गई और उसकी वृद्धि रुक गई। नियमोंसे बँधकर उसके शब्द-रूपोंका विकृत और नाश होना बन्द हो गया और उसके साथ ही उसके शरीरकी गति भी धीरे-धीरे बन्द हो गई। किन्तु वह आदि प्राकृत, जो जनताकी भाषा थी, अपने पुराने शब्द-समूहोंका नाश और नए शब्द-समूहोंकी उत्पत्ति करती आई। इस प्रकार नाशके रूपमें उसका विकास होता चला आया। उस आदि प्राकृतसे स्वभावतः स्थानीय भेदोंके कारण कई प्रकारकी प्राकृत भाषाएँ निकलीं।

वररुचिने चार प्रकारकी प्राकृत भाषाओंका व्याकरण दिया है, अर्थात् महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। पीछे आकर इन मुख्य चार प्राकृतोंके और भी रूपान्तर हुए, जो भिन्न-भिन्न स्थानीय नामोंसे विख्यात हुए। मराठी और शौरसेनी प्राकृतके दो-एक उदाहरण देखिए:—

"णयि आये चिय वा आयापि,
अत्तणों गारवं निवेसयन्ता ॥
जे यंति पसंसं चिय,
जयंति इह ते महा कइणो ॥

इसे भाण्डारकर महाशयने इस प्रकार संस्कृतमें परिवर्तित किया है:—

निजयैव वाच.आत्मनो, गौरवं निवेशयन्तः ॥
ये यान्ति प्रशंसामेव जयंति ते महाकवयः ॥

एक और उदाहरण शौरसेनी प्राकृतका देखिए:—

कधं अणु गहीदम्हि। इअमालिङ्गामि। दंसणं उण पियसहीए बाहुप्पीडेण णिरुद्धम् ण लम्भीअदि।

संस्कृतमें इसका रूपान्तर यह है :—

कथमनुगृहीतास्मि । इयमालिङ्गामि । दर्शनं पुनः प्रिय सख्या बाष्पोत्पीडेन निरुद्धम् लभ्यते ॥

इन्हीं प्राकृतोंसे रूपान्तर और रूपनाशके क्रमानुसार अपभ्रंश भाषाका विकास हुआ। वररुचिने तो अपभ्रंश भाषाकी 'प्राकृत-प्रकाश'मे कोई चर्चा नही की है, किन्तु हेमचन्द्रने उसको भी प्राकृतका एक रूप माना है और उसका व्याकरण दिया है। इस भाषामे आप आधुनिक हिन्दीका रूप पहचान सकते हैं। अपभ्रंश भाषामें आधुनिक हिन्दीके बहुत छन्द मिलते हैं। दो-एक उदाहरण इस भाषाके भी देखिए :—

एत्तहे तेत्तहे वारिघरि लच्छि बिसंठुल धाइ ।
पिअ पब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिंवि न ठाइ ॥
जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्स ।
तसु हुउं कलजुगि दुल्लह हो बलि किज्जउं सु अणस्सु ॥

इन रूपोंसे चन्दकी भाषा और छन्दसे भी कुछ मेल मिलता है। वास्तवमें, यह अपभ्रंश भाषा शौरसेनी प्राकृत और पुरानी हिन्दीके बीचमें आती है और दोनों ही से उसकी समानता है। यह जान पड़ता है कि हम मारवाड़ और ब्रजके पुराने कवियोंके समीप पहुँच गए हैं। हिन्दी भाषाके भावी रूपकी छटा आपको यहीं दिखाई पड़ने लगती है। इस अपभ्रंश भाषाके साथ मिलानके लिए चन्दके छन्दोंके दो-एक उदाहरण दिए बिना मैं नहीं रह सकता :—

पुच्छत बयन सु बोले, उच्चरिय कीर सच्च सच्चाए ।
कवण नाम तुअ देस, कवण मन्दकरयपरबेस ॥१॥
हसम हयग्गय देस अति, पति सायर मृज्जाद ।
प्रबल भूप सेवहिं सकल, धुनि निसान बहु साद ॥२॥
सवा लष्ष उत्तर सयल, कमऊं गढ़ दुरङ्ग ।
राजत राज कुमोद मनि, हय गय द्रिव्व अभंग ॥३॥

आगे भाषाका किस प्रकारसे रूप-परिवर्तन हुआ, उसके उदाहरण मैं यहाँ नहीं दूँगा, क्योंकि इसके पश्चात् हम तुरन्त ऐसे समयमें आ जाते है, जो प्रति दिनके पठन-पाठनसे इस समय भी हमारी आँखके सामने हैं। इन सब

परिवर्तनामें आप भाषाके विकासका वही सिद्धान्त पाएँगे, अर्थात् दिन-पर-दिन कुछ शब्दोंका नाश और उन्हींके शरीरसे नवीन शब्दोंका प्रादुर्भाव। यह परिवर्तन अब भी बराबर हिन्दी भाषामें जारी है, और उसका जारी रहना ही उसकी सजीवताका कारण और द्योतक है।

प्राकृत और अपभ्रंश तथा अपभ्रंशसे मिली हुई पुरानी हिन्दीके ग्रन्थोंका प्राय: लोप-सा हो रहा है। जो ग्रन्थ नष्ट हो गए और अब अप्राप्य हैं, उनके सम्बन्धमें दुःख प्रकट करनेके सिवा और हम कर ही क्या सकते हैं? किन्तु मुझे तो ऐसा विश्वास होता है कि अब भी यदि पूर्ण रूपसे खोज की जाए तो बहुतसे भाषा-रत्नोंका उद्धार हो जाए। अन्य देशोंमें ऐसे महत्वके काम राज्यकी ओरसे लाखों रुपए व्यय कर किए जाते हैं। हमारे देशमें दुर्भाग्यसे सैकड़ों वर्षोंकी राजनीतिक स्थितिके कारण उन ग्रन्थोंका पठन-पाठन उठ गया और वे कहीं देखनेमें भी नहीं आते। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दीकी अन्य संस्थाओं तथा हिन्दी-सेवियोंका एक बड़ा कर्तव्य मुझे यह जान पड़ता है कि इन ग्रन्थोंके लिए गहरी खोज की जाए और एक विशाल संग्रहालय बनाया जाए, जहाँ देशभरसे इकट्ठा कर ऐसी पुस्तकें सुरक्षित की जाएँ। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभाकी ओरसे इस ओर जो कुछ काम हुआ है, उसके लिए वह धन्यवादकी पात्र है, किन्तु जो काम करना है, उसको देखते हुए, जो अब तक काम हुआ है, वह बहुत ही कम प्रतीत होता है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की सार्थकता इस प्रकार की महती आवश्यकताओंके पूरा करनेमें ही है। यदि सम्मेलनके कार्यकर्त्ताओं और सहायकोंकी संघटित शक्ति इसी काममें लग जाए तो न केवल हिन्दी भाषाका किन्तु देशभरका, ऐतिहासिक खोजकी दृष्टिसे, बड़ा उपकार हो जाए।

हिन्दी भाषाके क्रम-विकासके सम्बन्धमें प्राय: साधारण जनोंकी यह धारणा-सी जान पड़ती है कि जो भाषा 'खुमान रासो' अथवा 'पृथ्वीराज रासो' में पाई जाती है, वहीसे हिन्दीका आरम्भ समझना चाहिए और वही हिन्दीका आदि स्वरूप है, उसीसे ब्रजभाषा निकली और ब्रजभाषासे धीरे-धीरे आधुनिक खड़ीबोलीका प्रादुर्भाव हुआ। मेरा निवेदन यह है कि यह बात भाषा-क्रम-विकासके विरुद्ध है, और हमें हिन्दीके जो भिन्न-भिन्न रूप अपने पुराने ग्रन्थोंमें दिखाई पड़ते हैं, वह इस विचारके सर्वथा विपरीत प्रमाण हैं। मुझे तो ऐसा

जान पड़ता है कि चन्दकी भाषामें अधिकतर प्रान्तीय भाषाका मिश्रण है। जिस समय चन्द राजस्थानमे कविता कर रहे थे, उसी समय ब्रज अथवा अवधमे वही चन्दकी भाषा बोली जाती थी, अथवा उसी भाषामें यहाँके भावुक रसिक-जन अपने आनन्दोत्सवके गीत गाते थे अथवा उसी भाषाके द्वारा माताएँ अपने बच्चोंको पालनेपर झुलाती हुई लोरियाँ गाती थीं, ऐसा होना प्रमाणित नही है। जो बातें ज्ञात हैं वह इसके प्रतिकूल हैं। यह भी नहीं जान पड़ता है कि खड़ी बोली ब्रजभाषासे ही सीधी निकली है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो ब्रजमे, जो ब्रजभाषाका केन्द्र है, आज भी आप खड़ीबोलीका प्रचार देखते। वास्तवमें, आप देख यह रहे हैं आज भी राजपूतानेकी भाषा ब्रजभाषाकी अपेक्षा चन्दकी भाषाके अधिक समीप है और जहाँ ब्रजभाषाका साम्राज्य है, वहाँ खड़ीबोली साधारण जनताकी भाषा नही है। खड़ीबोलीका प्रचार केवल बोलीकी रीतिसे दूसरे ही स्थानोंमें है। इससे मुझे तो यही प्रतीत होता है कि इन भाषाओंका क्रम-विकास अपभ्रंश भाषाओंसे पृथक-पृथक हुआ है। अपने पुराने साहित्यपर दृष्टिपात कीजिए, तो भी यही बात प्रकट होती है। चन्दका समय प्रायः विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके मध्यमें माना गया है। अमीर खुसरोंका जन्म संवत् १३१२ सिद्ध है, अर्थात् चन्दके अन्त और खुसरोंके जन्ममें केवल ६४ या ६५ वर्षका अन्तर था। किन्तु आपको खुसरोकी भाषा और चन्दकी भाषामें कितना भारी अन्तर दिखाई पड़ता है, जो कदापि ऐसी दो भाषाओंमें नहीं हो सकता, जिनमेंसे पहिलीसे दूसरी निकली हो। खुसरोकी कुछ कविताएँ यहाँ देखिए —

(१)

सरकंडोंके ठट्ठ बँधे और बंद लगे हैं भारी।
देखी है, पर चाखी नाहीं लोग कहै है खारी॥

(२)

खड़ा भी लोटा पड़ा भी लोटा,
है बैठा और कहै है लोटा॥
खुसरो कहै समझका टोटा।

(३)

सरपर जटा गलेमें झोली, किसी गुरूका चेला है।
भर भर झोली घरको धावै, उसका नाम पहेला है॥

(४)

र पड़ी मेरे आँखों आया,
ल सेज मुँहि मजा दिखाया।
ससे कहूँ मजा में अपना,
सखि साजन ना सखि सपना॥

दो-सखुनी हिन्दी प्रसिद्ध हैं, दो-एक उदाहरण देखिए :—

(१)

प्रश्न :— रोटी जली क्यों?
घोड़ा अड़ा क्यों?
पान सड़ा क्यों?

उत्तर :—फेरा न था।

(२)

प्रश्न :— दीवार क्यों टूटी?
राह क्यों लूटी?

उत्तर :—राज न था।

इस रसीले दोहेपर भी तनिक ध्यान दीजिए :—

खुसरो रैनि सुहागकी, जागी पियके संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए इक रंग॥

बनाई हुई 'खालिक़बारी' अब भी मकतबोंमें कहीं-
वेद्याभ्यासके प्रारम्भमें याद कराई जाती है। नमूना

खालिकबारी सिरजनहार।
वाहिद एक बिदा करतार॥
मुश्क काफूर अस्त कस्तूरी कपूर।
हिन्दवी आनन्द शादी और सरूर॥
गदुम गेहूं नखूद चना शाली है धान।
जर जोन्हरी अदस मसुरू बर्ग है पान॥

क्या यह भाषा चन्दकी भाषाका ६० वर्ष पश्चात् परिवर्तित रूप जान पड़ती है? ६०० वर्ष बाद भी यह खुसरोकी कविता आज हमारी आधुनिक खड़ीबोलीकी कविता-सी ही है। ब्रजभाषाका उत्कर्ष-काल खुसरोके बहुत पीछेका है। हिन्दी काव्यके सिरमौर कबीरदासजी की भी कविताका बहुत अंश खड़ी बोलीसे ही मिलता-जुलता है, यद्यपि ब्रज, अवधी और बिहारी भाषाओंका ही उसमे समावेश है।

तात्पर्य यह कि चन्दकी भाषा, ब्रजभाषा और खड़ीबोलीका स्रोत अपभ्रंश भाषाओंसे अलग-अलग निकला और अलग-अलग प्रवाहित हुआ। स्रोतकी उपमा पूरी घटित नहीं होती, क्योंकि एक स्रोत दूसरे स्रोतसे अलग होकर प्राय: एक-दूसरेमें नही मिलते, किन्तु उपमाके मुख्य अंगको सामने रखते हुए भी भाषाओंके सम्बन्धमें हमे यह न भूल जाना चाहिए कि उसका एक-दूसरेपर प्रभाव बराबर पड़ता रहता है। जिस प्रकार चन्दकी भाषाका जन्मस्थान राजपूताना और ब्रजभाषाका ब्रज कहा जा सकता है, उसी प्रकार खड़ीबोलीका जन्मस्थान ब्रजके आस-पास मेरठ जिलेकी भूमि कही जा सकती है। सदा काव्योंसे जनताकी भाषाका अनुमान नही हो सकता, क्योंकि काव्य प्राय: प्रथानुसार कृत्रिम भाषामें भी रचे जाते हैं। उदाहरणके लिए यही देखिए कि जिस समय ब्रजभाषाका उत्कर्ष था, प्राय: उन कवियोंने भी, जिनकी मातृ-भाषा ब्रजभाषा नही थी, उसी भाषाको काव्य-भाषा मानकर उसीमे कविता की। ब्रजभाषा यद्यपि एक प्रकारसे हिन्दी-भाषा-भाषी मात्रकी बहुत दिनों तक कविताकी भाषा मानी हुई थी, तथापि सिवाय ब्रजके वह बोलचालकी भाषा कहीं नहीं हुई। बोलचालकी भाषाके सम्बन्धमें आदर्श खड़ी बोलीकी ओर ही झुकता गया। इसमे मुसलमानोंका भी बहुत हाथ था। मुसलमानोंने हिन्दीके साँचेमे ढालकर जो फारसी और अरबी शब्दोंकी सहायतासे एक नए प्रकारकी भाषाका ढंग निकाला और चलाया, उसका साँचा खड़ीबोलीका ही था। उस भाषाने भी हिन्दीके रूपके स्थिर होनेमें सहायता दी।

अन्तमे मैं उर्दू भाषाके सम्बन्धमें भी कहना चाहता हूँ। आज हिन्दी और उर्दू दो भिन्न सभ्यताकी सूचक भाषाएँ बन गई है। उनका धार्मिक प्रोत्साहन भी भिन्न उपमाओं और रूपकों और भिन्न दिव्य पुरुषों द्वारा होता है। किन्तु वास्तवमे, भाषाका आधार एक ही है, और अभी यह दोनों स्रोत

नरेस नही हुए हैं कि फिर मिलकर एक प्रबल धारामें परिणत
का अपना शक्तिसे उवरा कर सुसज्जित न कर दें। मुझ
दी और उर्दू भाषाओंके पोषक देश-भक्तोंका यही तात्कालिक
ना है। कुछ हिन्दी-प्रेमी मेरे इस कथनको सुनकर सम्भव है
समझें कि मैं हिन्दी भाषाके रूपको विकृत करनेकी सम्मति
; कहें कि इस प्रकारके विकृत रूपमें न हिन्दी भाषाका माधुर्य,
प्रौढता ही रह जाएगी। हिन्दी भाषाके आधुनिक रूपके
सकी गति रुक जाएगी। यह मैं नहीं मानता। प्रतिभाशाली
लेखक हिन्दी और उर्दूकी मिली हुई उस भाषामें भी वही
र देंगे जो सदा अपभ्रष्ट किन्तु जीवित भाषाओंमें मिलती

* * *

हिन्दी-साहित्य-कानन

[राजर्षि टण्डनजीकी यह रचना सन् १९२३ की है। इस रचनासे स्पष्ट है कि वे केवल राजनैतिक नेता ही नहीं वरन साहित्यके मर्मज्ञ, विद्वान् और पारखी भी थे। यह लेख उनकी आकर्षक और अलंकारिक लेखन-शैलीका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें उन्होंने साहित्यको वन-काननके रूपमें चित्रित किया है।]

साहित्य क्या है? मनुष्यके भावोंका शाब्दिक चित्र। ईश्वरी शक्तिकी सबसे अनूठी रचना, जो संसारमे हमें दिखाई पड़ती है, स्वयं मनुष्य है। मनुष्यमें सबसे उत्तम और विचित्र वस्तु उसके भाव हैं। भावोंको व्यंजित करनेके कई मार्ग हैं, किन्तु उनके लिए सबसे श्रेष्ठ दर्पण शब्द ही हैं। शब्द सृष्टिका आधार है और जितने ही अंशमें मनुष्य उस मुख्य शक्तिका सहारा लेनेका सामर्थ्य रखता है, उतना ही वह श्रेष्ठ है और सृष्टिके केन्द्रके समीप पहुँचता है। शब्दके बारेमें बाइबिलमें कहा है—"वह ईश्वरके साथ था और स्वयं ईश्वर था।"

हमारे देशके महात्माओंने भी शब्दको ही सृष्टिका मूलतत्व माना है। शब्दके सहारे ही समस्त ब्रह्माण्डका विकास बताया है। इसीलिए मनुष्य

जितना ही अधिक शब्दकी शक्तिका परिचय पाता है उतना ही वह ज्ञानी होता है जितना ही अधिक उसके रहस्यपूर्ण अमृतको वह चखता है, उतना ही श्रेष्ठ कवि होता है। संसारमें यों तो हम प्रतिक्षण शब्द कहते हैं और सुनते हैं, किन्तु उसके वास्तविक रहस्यकी ओर हमारा ध्यान नही जाता। इतना तो फिर भी हम बाह्यरूपसे देख ही सकते हैं कि हमारे इस आधिभौतिक जगत्का वर्तमान रूप, उसका कई लाख वर्षोंका उत्थान, उसकी सारी स्थिति शब्द ही के सहारे हैं। जो महात्मा इस आधिभौतिक जगत्के परेका हाल जानते हैं, उनकी वाणीमें तो शब्दकी महिमा पग-पगपर प्रगट होती ही है, किन्तु हम साधारण जन भी, जिनकी परिमित बुद्धि और नेत्रोंकी ज्योति इस भूमण्डलके स्थूल पदार्थोंके अन्धकारमेंसे ऊपर की कुछ भी बातें नही देख सकतीं, इतना अवश्य देखते हैं कि अपने बुद्धि-क्षेत्रकी सीमाके भीतर भी हमारा सब कार्य तथा कार्योंके कारण और परिणाम शब्द ही की शक्तिपर निर्भर हैं। इसीलिए पृथ्वीके आदि कालसे जिन महापुरुषोंने शब्द अथवा वाणीकी उपासना की, उन्होंने ही अपने तपोबलसे इस जगत्के उत्थानमें सबसे अधिक सहायता की है और वे ही जनताके पूज्य और प्रेम पात्र होते आए है। हमारे यहाँ तो स्वत. शब्दको प्राचीन ऋषियोंने इतना पवित्र माना कि ब्रह्मको भी शब्द अथवा नाद स्वरूप बताया। शब्दकी पवित्रताको ही अछूत रखनेके लिए उन्होंने वेदोंको मनुष्यके मुखसे निकला हुआ नही, किन्तु 'स्वतः शब्दित' बताया। हमारे महापुरुषोंमें, जिनकी वाणीमें असाधारण शक्ति थी, वही अवतार कहलाए। इसमें भी सन्देह नही कि महापुरुषोंके अतिरिक्त भी कुछ निम्न श्रेणीके मनुष्योंकी वाणीमें शक्ति हो सकती है और होती है। ईश्वरीय अंश तो सभी जगह विराजमान है, साधारण मनुष्यके हृदयसे भी वह कभी-कभी विचित्र और अलौकिक रीतिसे प्रकट हो जाता है। इन्हीं महापुरुषों और असाधारण पुरुषोंके गम्भीर शब्दोंके समूहका नाम साहित्य है। साहित्यमें डूबना मानों सृष्टिके आदि स्रोतमें डूबना है। किन्तु हरेक अपनी शक्तिके अनुसार ही उस स्रोतमें विहार कर आनन्द और लाभ उठा सकता है। मधुकर सुगंधित वृक्षोंके वनमें नित्य पराग चखते हुए भी वनके समस्त पुष्पोंका आनन्द नही उठा सकता। उसकी तृप्ति तो थोड़े ही से फूलोंसे हो जाती है। संसार-साहित्य भी अपरिमित और अखंडित उच्च सुगंधित भावोंका कानन है। उसके कुछ ही अंशोंमें मनुष्य पैठ सकता है, वह आनन्द तो थोड़े ही अंशसे उठाता

है, किन्तु उसके तारतम्यका वह अनुभव कर सकता है। इस अनुभवमें भी एक अद्‌भुत आनंद है। इस बातका ज्ञान कि जिस वनमें हम विहार कर रहे हैं, वह अपार है, उसमें हमारे-से लाखों जीव हरदम विहार करते हैं। हमसे पहले असंख्य जीव वहाँ विहार कर चुके हैं और हमारे पीछे भी करेंगे, इसमें भी एक अद्‌भुत चमत्कार है। हम अकेले नहीं हैं, एक महान् कुटुम्बके वंश हैं, हमारा सम्बन्ध सृष्टिके आदिसे आज तक है और जो आगे आवेगा उससे भी रहेगा, हममें ही भूत और भविष्यका मिलान होता है, इसमें भी अद्‌भुत आत्मगौरव है। इसीलिए सचमुच वह भाग्यवान् है, जो इस अपार साहित्य-वनके किसी भी भागमें कल्लोल करता है। जिस मनुष्यने इसका दर्शन न किया और जो इसके सुरभित फूलोंकी महकमें मस्त न हुआ, उसका जीना वृथा है।

हिन्दी-साहित्य भी संसार-साहित्यका एक अंग है। वही हमारे समीप और हमारा विहारस्थल है। चिरपरिचयके कारण उसके अनेक स्थल हमें अतिप्रिय हैं और हमारे जीवनमें समय-समयपर हमें शीतलता देते रहते हैं। यहां सभी प्रकारके चित्र-विचित्र वृक्ष हैं और कुछ तो ऐसे हैं कि यदि आपको इस हिन्दीके अंशके अतिरिक्त साहित्य-वनके अन्य अंशोंमें घूमनेका सौभाग्य हो तो वहाँ भी उसकी तुलना न हो सकेगी। क्या सुन्दर समूह है! एक ओर कबीर, मीरा, दादू, सुन्दरदासका वाणी-विकास है, पास ही सूर, तुलसी, नन्ददास, हितहरिवंशकी पवित्र ध्वनि गूंज रही है। कितने भक्त-जनोंके वृन्द इन वाणियोंके साथ आनन्दमें मतवाले होकर नृत्य कर रहे हैं और स्वयं उनके स्वर-में-स्वर मिलाकर इस दैवीगानको कितना विशाल बना रहे हैं। क्यों? आपको भी कुछ सुनाई पड़ रहा है? ध्यानावस्थित होइए, तभी सुन पड़ेगा। अथवा आपका ध्यान कुछ दूसरे ही स्वरोंपर मुग्ध है, जो देव, बिहारी, मतिराम, सेनापति, पद्‌माकर ठाकुर, पजनेशके समूहसे आ रहे हैं? इन स्वरोंमें भी अद्‌भुत आकर्षण है। वधिककी वीणाके समान हमारे मन-मृगको स्तम्भित कर घसीटे लिए जा रहे हैं। किन्तु रुकिए! अभी दूसरी ओर की दैवी-वाणीका आनन्द आपने समझा ही नहीं। यदि आप कबीर और सूरके समूहोंकी ध्वनिमें मस्त नहीं हो सकते, तो भी अपने को देव और मतिरामके स्वरोंमें भुला न दीजिए। इधर भी क्या आपकी दृष्टि पड़ी? देखिए, भूषण, लाल और सूदनका कैसा गम्भीर रणनाद हो रहा है! इस नादमें क्या ही आनन्द है। यह नाद

हैं तो कर्कश किन्तु इसमें भी अद्भुत आनन्द है। मैं देखता हूँ आप बार-बार देव और मतिराम ही की ओर झुकते हैं। बहुत पुराना अभ्यास पड़ गया है आपने तो इस साहित्य-वनमें जान पड़ता है, केवल इन्हींके स्वरोंमें आनन्द लेना सीखा है। किन्तु आपने इस वनके उत्तुंग गगनस्पर्शी वृक्षोंके दर्शन ही नहीं किए अथवा उधर आँख गई भी तो उनकी स्थितिको पहचान ही न सके। दूसरी ओर देखिए। रहिमन, वृन्द, गिरिधर— इनकी तो सूक्तियाँ आपको अवश्य रिझा सकती हैं। किधर-किधर देखें? चारों ओर रंगीलापन, माधुर्य और आनन्द ही तो दिखाई पड़ता है। हम तो चलते-चलते थोड़ी दूर चले गए थे! यहाँ तो हमारे पास ही हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण, पूर्ण और सत्यनारायण अपनी मस्तानी तान सुना रहे हैं। क्यों, थोड़ी देर बैठ क्यों न जाएँ?

वाह! यह तो कुछ एक और ही गुल खिल गया। हमारे साथ ही भ्रमण करनेवाले मित्रोंने इस साहित्य-वनमें प्रतिभान्वित हो कैसा मनोहारी और ओजस्वी गान आरम्भ कर दिया। पूज्य पण्डित श्रीधर पाठकको इस वनका एक उजड़ा हुआ कोना ही पसन्द है। वहीं एकान्तमें बैठे हुए वह भारत-गीतसे श्रोताओंका मनोविनोद कर रहे हैं। श्रद्धेय अयोध्यासिंहजी 'हरिऔध' हमसे कुछ अलग ही हटकर अपने प्रवासी प्रियतमकी खोजमें करुणा-नाद कर हमारे चित्तको विह्वल कर रहे हैं। पास ही पंडित नाथूरामशंकरजी अपने डमरूके स्वरोंके साथ संसारकी जितनी कुरीतियाँ हैं, उनको भस्म करनेके लिए अपना तीसरा नेत्र खोले नृत्य कर रहे हैं। साधारण आदमी तो उनके पास जाते भयभीत होता है, किन्तु पाससे देखिए तो, इस तेजस्वितामें भी सहृदयता और कोमलता है। और भी पास लाला भगवानदीन सूक्ति-स्वरमें लीन हो रहे हैं, और वियोगी हरिजी अपने प्रियतमके वियोगसे दुखी करुणस्वरमें उसका गान करते अष्टछापके कवियोंकी याद दिलाते हैं। किन्तु है! यह क्या ध्वनि आई! यह तो बिलकुल ही विचित्र है। यह तो किसी नई रागिनीकी उत्पत्ति जान पड़ती है। वाह! इसमें तो अधिकतर हमारे निजी मित्रगण ही सम्मिलित हैं। एक ओर मैथिलीशरणजी भारत-भारतीकी आरती उतार रहे हैं। इसी समूहमें दूसरी ओर रामनरेशजी ईश्वरसे भारतवर्षमें ऐसे पथिक भेजनेकी प्रार्थना कर रहे हैं, जो केवल अपने सतोगुणसे, बिना रजोगुण और तमोगुणका सहारा लिए, भारतका उद्धार करें। ईश्वरने तो अपनी प्रकृतिमें

तीनों गुणोंका ही मिश्रण किया है और इस पृथ्वी-स्थलको तो, जान पड़ता है रजोगुण-व्याप्त ही बनाया है। वह त्रिपाठीजीके गानमें मोहित हो कहाँ तक अपने नियमोंको बदल देगा, इसका कौतूहल है। तो भी तान तो अद्भुत ही छेड़ी! इन्हीं मित्रोंके पास माखनलालजी 'भारतीय आत्मा' की करुणा और ओजभरी गाथासे और त्रिशूलजी (गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही') अपने प्रबल शस्त्रका सहारा दे सोई हुई जनताको जगानेका प्रयत्न कर रहे हैं। इसी प्रयत्नमें माधव शुक्लजी भी उनका साथ दे स्वतन्त्रता देवीका यशकीर्तन कर रहे हैं। भारतवर्षके नवयुवक आज इसी गानको ध्यानसे सुन रहे हैं, किन्तु कुछ चुपसे हैं। मैं तो ध्यान लगाए आसरा देख रहा हूँ कि वे कब इसी गानके स्वरमें स्वयं स्वर मिला इसी शक्तिशालिनी देवीके उपासक बनेंगे।

किन्तु वाह! इस वनके एक अंशपर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया। यहां तो गान करनेवालोंके अतिरिक्त गम्भीर विचारोंमें लीन अपने ओजस्वी शब्दोंमे शिक्षा देनेवाले अथवा ब्रह्माण्डका अन्वेषण तथा प्राचीन इतिहासका वर्णन करनेवाले विद्वज्जन विराजमान हैं। कुछ विद्वज्जन ऐसे भी हैं, जो इस साहित्य-वनके गानका आनन्द उठाते हुए इसीकी कथा औरोंको सुना रहे हैं। यहाँ शिवसिंह सेंगर, लल्लूलालजी, राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, सुधाकर द्विवेदी, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास आदि प्रतिभाशाली व्याख्याता, गम्भीर किन्तु आनन्दपूर्ण भावसे उपस्थित हैं। निकट ही श्रद्धेय महावीरप्रसाद द्विवेदी, गोविन्दनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी के दर्शन हो रहे हैं। द्विवेदीजी किस प्रकार गम्भीर शब्दोंसे सरस्वतीका आह्वान कर हिन्दी भाषी युवक मण्डलीको उसके दर्शन करनेका निमन्त्रण दे रहे है? और भी पास मिश्रबन्धु इस वनके अन्वेषणकी कथा सुना लोगोंको यहाँ भ्रमण करनेके लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं, और रामदास गौड़ समस्त ब्रह्माण्डके वैज्ञानिक रूपका दिग्दर्शन करा रहे हैं। समीप ही जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, कामताप्रसाद गुरू, अम्बिकाप्रसाद बाजपेई इस साहित्य-वनकी रचना-शैलीपर आश्चर्यके साथ विचार कर रहे हैं। यहीं माधवराव सप्रे, अमृतलाल चक्रवर्ती इस महावनके अन्य अंशोंका फोटो लिए हुए हिन्दी भाषियोंको दिखा रहे हैं।

वाह यहाँ तो घूमते घूमते श्यामसुन्दरदासजी भी आ गए आपका इस वनके दर्शनमात्रके आनन्दमें ही तृप्ति नहीं हुई आप यहाँके न केवल इस हिन्दी अंशका किन्तु अँग्रेजी अंशका भी आलोचन कर ओजस्वी शब्दोंमें अपने मतकी व्याख्या कर रहे हैं। हैं! यह तो आज एक और नया आनन्द हुआ। पद्मसिंहजी भी यहाँ आ विराजे। आप तो बिहारीपर लट्टू हो रहे हैं। बिहारी-का इसी वनमें गान सुनते-सुनते, जान पड़ता है, आपको यह भ्रम हो गया कि बिहारीकी वाणीमें शक्ति कुछ क्षीण हो गई है, इसीलिए आप तुरन्त दौड़कर संजीवनी बूटी लेकर आए और स्वयं भी बिहारीकी तानपर ताल देकर उसको अधिक रोचक रूपमें दरसानेका प्रयत्न कर रहे हैं।

इस वनका, आज दौड़ा-दौड़में, अणुमात्रको ही सही, दर्शन तो हो गया। बहुत-सी माधुर्य-पूर्ण कुंजों और बहुतसे गम्भीर व्याख्याताओंके आश्रमोंमें तो मेरी आँख भी नहीं गई। इस भागा-भागमें देख ही क्या सकता था? यह तो संसारी झंझटोंसे अच्छा अवकाश मिलनेपर ही सन्तोषके साथ हो सकता है। किन्तु मुझ जैसे कीचमें पड़े हुए मनुष्यको क्षणमात्रका भी दर्शन बहुत है। इसके पास आकर चित्त तो यही चाहता है कि यहीं की लता-कुंजोंमें घूमता रहूँ और यहाँके गम्भीर दैवी गीत तथा शिक्षा-प्रद सदुपदेश सुना करूँ। सब समूहोंको देखकर भी बार-बार कबीर और दादू, सूर और तुलसी— इन्हींके अलौकिक नाद सुननेको जी चाहता है। मुझे तो इनके ओजस्वी नादके समान, न केवल वनके इस अंशमें किन्तु अन्य अंशोंमें भी जिनका किसी समयमें मैंने अवलोकन किया है, कोई नाद सुनाई न दिया। और फिर कबीरका तो कहना ही क्या? अन्य कवि तो सांसारिक बातोंकी चर्चा करते हैं, शब्द-चातुरी और स्वकल्पित रस-माधुरीमें मुग्ध होते हैं अथवा कुछ ऊपरीकी कहते हैं तो सुनी सुनाई, किन्तु कबीर के नादको तो सुनते-सुनते यह जान पड़ता है कि आँखके देखे हुए रहस्यकी कोई वार्ता कर रहा है। एक बार इस वनके दूसरे अंशमें मौलाना रूमके दर्शन हुए थे। उनके गानसे भी मैं दंग हो गया था, क्योंकि उस ओरकी वन-वीथियाँ मेरी अधिक परिचित न थीं और न वहाँ उस प्रकारके गान सुननेकी कभी मुझे आशा थी, किन्तु मौलाना रूमके 'नय' के स्वरोंने मुझे अपने पूर्व-परिचित कबीरकी आकाशसे उतरी हुई ध्वनिकी याद दिला दी थी। आपका झुकाव कदाचित् किसी और ही तरफ है। खैर! जाने दीजिए। आप तो

मुझसे हर तरहसे श्रेष्ठ हैं और भाग्यवान हैं कि आप इस आनन्द-काननमें विहार तो करते रहते हैं।

साहित्य-काननके इस अंशमें बड़े-बड़े तेजस्वी पुरुषोंकी वाणीकी झनकार हो रही है, किन्तु अब भी बहुत स्थान ऐसे हैं, जहाँ नए-नए प्रतिभाशाली गायको और व्याख्याताओंके बसनेकी आवश्यकता है। यह समय भारतवर्षके लिए महापरिवर्तन और बड़े महत्वका है। यही अवसर है। मनुष्यके और देशके भाग्यमें ऐसे अवसर बार-बार नहीं आते, जब वह अपने विचारों और कृत्योंसे संसारका मानसिक प्रवाह बदल दे। आपको बड़े सौभाग्यसे यह अवसर प्राप्त हुआ है। आप न केवल साहित्य-काननके इस अंशके इन रिक्त स्थानोंको ले सकते हैं, किन्तु यहाँ नितान्त नए नादोंसे विप्लव मचा सकते हैं। सबसे पहली बात यह स्मरण रखिए कि यों तो इस वनमें किसी तरहकी मोहिनी ध्वनियाँ गूंज रही हैं, किन्तु वास्तविक आदर उन्हींको मिलता है, जो अकृत्रिम रूपसे ब्रह्माण्डके नैसर्गिक संगीतके स्वरोंमें मिलकर ध्वनित होती हैं। कृत्रिमता छोड़िए, भावुकता संग्रह कीजिए, सूर्यकी नैसर्गिक ज्योतिका सौन्दर्य पहाड़ों और जगलोंमें स्वतः दिखाई पड़ता है। हरे, लाल और पीले काँचके टुकड़ोंकी उसे आवश्यकता नहीं। बिजली की ज्योतिको सुन्दर बनानेके लिए आप भले ही अपने काँचके टुकड़े भिन्न-भिन्न रंगोंमें रगें और उनको भिन्न-भिन्न आभूषणोंसे भूषित करें, किन्तु सूर्यकी ज्योति इन कृत्रिम आभूषणोंका तिरस्कार करती है। आभूषणोंकी आवश्यकता, कवियोंके चलनके अनुसार भी, परकीया नायिकाको ही अधिक होती है। स्वकीया सतीका शृंगार आभूषणोंपर न निर्भर है और न उससे बढ़ता ही है। स्वाभाविकता ही उसका जोहर हैं :—

पतिबरता मैली भली, गले काँचकी पोत।
सब सखियनमें यों दिपै, ज्यों रवि शशिकी जोत॥

वाणीकी सार्थकता इसीमें है कि वह आकाशमें सीढ़ी बाँधकर मनुष्यको उस स्थानपर चढ़ा दे, जहाँसे ही वाणीका उद्‌भव हुआ है। यदि वाणीने मनुष्यको लुभाकर नीचे कीचमें घसीटकर डाल दिया तो उसका सौन्दर्य कुलटाका सौन्दर्य है, जो भोग-लिप्सुओंके हृदयको क्षण भरके लिए भले ही लुभा ले, किन्तु जो उच्च पुरुषोंके सामने आदर नही पाता। आप अपनी वाणीका ऊँचा आदर्श

रखें। वह पवित्र कुलकी पुत्री है उसका श्रृंगार नैसर्गिक मानना और मल्लिकाम ही कर उसका पूजन करें सुनारोंके भडकील आभूषणोंको दूर ही रखें भारत वर्षके इस परिवर्तन-कालमें ऐसे उपासकोंकी आवश्यकता है जो अपनी वाणीसे वास्तविक स्वतन्त्रताका नाद देशमें भर दे। नगर, ग्राम, जंगल और पहाड़ोंसे घृणित दुर्बलता और निर्वीर्यताको निकाल महाशक्तिकी मूर्ति जनताके हृदयमें स्थापित कर उसके पवित्र पूजनके लिए नृत्य और गान करें। निस्सार और नीचे गिरानेवाले रसों और उन्हींके समान पोच संचारी भावों, विभावों और अनुभावोंको छोड़ दिव्य नए रसोंका प्रादुर्भाव कीजिए, उनके उपयुक्त संचारी भावोंसे उनको संचरित कीजिए, उनके उपयुक्त विभावोंसे उनका पोषण कीजिए और तब उनके परिणामस्वरूप महत् अनुभवोंका दर्शन कर कृतार्थ होइए। इस साहित्य-काननमें जो रिक्त स्थान हैं वहाँ इस समय ऐसे ही वीर प्रतिभा-सम्पन्न आकाश मार्ग-गामी साहित्य निर्माताओंकी आवश्यकता है।"

* * *

भाषाका सवाल

※

[यह लेख राजर्षि टण्डनजीने सन् १९१९ ई. में उर्दूमें लिखा था जो लाहौरसे निकलनेवाले उर्दू पत्र 'प्रकाश' के 'ऋषिअंक' विशेषांकमें प्रकाशित हुआ था। उसी लेखका यह नागरी लिपिमें रूपान्तर है। यह लेख टण्डनजीकी उर्दू-लेखन-शैलीका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। आजके अँग्रेजीके दबदबेमें यह लेख पुराना होते हुए भी नया जान पड़ता है।]

हमारे देशकी मौजूदा हालतमें कोई खैरख्वाह मुल्क भाषाके सवालको नजरअन्दाज नहीं कर सकता। मुल्की मुआमलात दो किस्मके होते हैं, एक तो वह जिनका तआल्लुक उन कार्रवाइयों, कवानीन और कवायदसे होता है जो किसी खास वक्तपर मुल्ककी रफ्तार व ख्यालातपर अपना असर डालते हैं और दूसरे वह जिनपर न सिर्फ मुल्ककी मामूली बहतरी व बेहबूदी बल्कि उसकी दायमी तहजीबका दारोमदार होता है। जबानका सवाल इस दूसरे किस्मके सवालोंमेंसे है। आज हमारे देशमें जो लोग मुल्की किस्मके काम करनेवाले हैं उनमेंसे बहुत ज्यादाका ख्याल इस किस्मके सवालोंमें कम आता है। कांग्रेससे लेकर सूबा और जिलेकी सभाओं तक यही बात देखनेमें आती है। मेरी मुराद यह नहीं कि यह मुल्की सभाएं जिन सवालातपर गौर करती हैं

यह [illegible] नहीं [illegible] तरफ भी जरूर ध्यान देना फर्ज है अपने हकूककी तरफ हमेशा मुल्ककी आँखें खुली होनी चाहिए। लेकिन इस बातकी भी सख्त जरूरत है कि रोजमर्राके राजनैतिक झगड़ोंमें हम उन बुनियादी उसूलोंको न भूल जावें, जिनके ऊपर हमारा समाज बनाया गया है और खड़ा है। उन उसूलोंको हमेशा अपने सामने न रखनेमें इस बातका अन्देशा है कि हमारे मुल्ककी किश्ती कहीं अपने पाएसे हटकर डावांडोल समुद्रपर लहराती न फिरे और किसी चट्टानसे टकरा न जावे। जिस तरह अच्छा कप्तान न सिर्फ अपने जहाजकी रोजाना देखभाल करता है और उसके इंजन और पुर्जोंकी हमेशा मरम्मत करता रहता है, बल्कि मंजिल मकसूदको हमेशा आँखके सामने रखते हुए उसी जानिब चलनेकी कोशिश करता है, उसी तरह हमारे मुल्की बेड़ेके चलानेवालोंका यह फर्ज है कि रोजमर्राके राजनैतिक अंधड़ और तूफानोंकी चपेटोंसे जो पुरजे ढीले हो जाते हैं, उनकी मरम्मत तो जरूर करते रहें लेकिन साथ ही देशके लिए जिस आदर्शको उन्होंने अपने सामने रखा है, उसको हमेशा ध्यानमें रखें और मुल्की झगड़ोंके बवण्डरोंमें उसे डिगने न दें। वाकई बात यह है कि हमारे मुल्ककी सच्ची और दायमी बहबूदी ऐसे महात्माओंके जरिए हुई है, जो इसी किस्मकी दूरंदेशीकी नजरसे काम ले सके।

स्वामी दयानन्द सरस्वती हालके जमानेमें उन चन्द महात्माओंमेंसे हैं जिन्होंने देशके मुआमलातपर विचार करने और उसको आगे बढ़ानेमें उन असली उसूलोंको अपनी नजरमें रखा है।

हर मुल्क और हर सभ्यताका उसकी भाषासे उतना ही गहरा तआल्लुक है जितना उसकी आब व हवासे। मुल्ककी भाषा और साहित्य ही हर एक मुल्ककी तरक्कीके गवाह हैं। भाषा ही वह खोराक और वह हवा है जिसपर देशके हर एक बच्चेकी विचारशक्ति परवरिश पाती है। अगर उसके मुल्की काम किसी ऐसी जबानके जरिए से किए जावें जिसको वह खुद नहीं समझता, तो जाहिर है कि दिन-ब-दिन मुल्की मुआमलातकी निस्बत उसकी कूवतफहम कम हो जावेगी। अगर साथ ही मुल्कके काबिल लोग अपने ऊँचे खयालातका इजहार किसी ऐसी जबानमें करने लगें जो मुल्ककी आम जबान न हो, तो इसका यही नतीजा होगा कि उस मुल्कके लोग अपने चीदा आलिमोंके खयालात से फायदा न उठा सकेंगे और दिन-ब-दिन जहालतके तरफ रुजू होंगे। जो लोग

हर बातमें यूरोपी तहजीबके मद्दाह हैं और अपने ख्यालातके गुँचे यूरोपियन ख्यालातके जखीरेसे ही लाना पसन्द करते हैं, उनकी नजर मैं यूरोपकी तवारीख-की जानिब दिलाना चाहता हूँ। जब तक यूरोपके ऊपर पुरानी यूनानी और लातीनी जबानोंकी हुकूमत रही और यूरोपके आलिम इन जबानोंके जरिए अपने ख्यालातका इजहार करनेमें फख्र समझते और देशी जबानोंमें लिखना-पढ़ना कसरेशान तसव्वर करते रहे, उस वक्त तक यूरोप अंध विश्वास, जिहालत और तोहूमातके गढ़हेमें पड़ा रहा, उसका उरूज उसी वक्तसे शुरू हुआ जिस वक्तसे योरपका पुराना इल्म यूनानी और लातीनी जबानोंकी कैदसे आजाद होकर आमफहम देशी जबानोंके लिबासमें नमूदार हुआ। बिलकुल वही हालत हमारे मुल्क की हो रही है जो किसी वक्त योरपकी थी। हमारे मुल्की काम ज्यादातर अंग्रेजी जबानमें हो रहे हैं, जिसको सिवाय बहुत थोड़े आदमियोंके हमारे यहाँके लोग बिलकुल नहीं समझते। स्वामी दयानन्दजीके वक्तमें जिस तरह अंग्रेजी पढ़नेवाले विदेशी लहरोंके साथ बह रहे थे और उनके ऊपर अंग्रेजी जबानका कौमियतके खिलाफ असर पड़ रहा था, इसको उस दूरन्देश कौमपरस्त महात्माने बखूबी देख लिया था। यह उसूल उनपर अच्छी तरह अयाँ था कि अपनी सभ्यताको बचानेका खास जरिया अपनी जबानकी हिफाजत ही है। अंग्रेजी जबानकी बढ़ती हुई लहरका मुकाबला करनेके लिए उन्होंने अपने मुल्ककी एक कौमी जबानके झंडेके नीचे हिन्दुस्तानके बाशिन्दोंको इकट्ठे करनेकी जरूरत महसूस की और इसीलिए आर्य-समाजके हर एक मेम्बरपर इस कौमी जबान यानी हिन्दीका जानना फर्ज रक्खा।

अगर हम जरा गौरसे अपनी मुल्की हालतकी तरफ ध्यान दें तो जाहिर होगा कि इस वक्त हमारे मुल्ककी जो नाजुक हालत है, आम लोगोंको हाकिमों और रेलवे कम्पनियोंके जो जुल्म जफा बरदाश्त करने पड़ते हैं, इन सबकी एक बड़ी वजह यह है कि हमारे मुल्ककी कार्रवाई अब भी अंग्रेजी जबानमें हो रही है। इन सबके अलावह इस जबानके फर्क से सबसे बुरा असर जो हमारे मुल्कपर पड़ रहा है वह यह है कि हमारे आदमी कमजोर और पस्त हिम्मत होते चले जा रहे हैं। हमारे देशके बड़े कारोबारकी बागडोर ज्यादातर उन लोगोंके हाथमें है, जो अपना काम अँग्रेजीमें करते हैं और इस बातकी उम्मीद करते हैं कि उनसे जो कोई बातचीत या खतोकिताबत करे वह भी अँग्रेजी

जबानमें हो। ऐसी सूरतमें वह बिचारा गरीब जो अंग्रेजी जबान नहीं जानता, अगर उसके ऊपर कोई सख्ती की गई हो और वह अफसरानसे इसकी शिकायत करना चाहे, तो अपने आपको वह एक गूँगे शख्सकी तरह पाता है, जिसकी बातें पूरी तरह समझनेके लिए बहुत कम लोग अपना वक्त देनेके लिए तैयार होते हैं। इस जबानके फर्ककी वजहसे न तो वह अपने हकूक समझता है और न अपनी हालतकी निस्वत अपनी दिली ख्वाहिशातका इजहार कर सकता है। ऐसी सूरतमें आप जो कुछ भी मुल्की बहबूदीकी कारवाइयाँ अँग्रेजी जबानमें करते हैं, उन सबका दायमी असर उस वक्त तक नहीं हो सकता, जब तक आप मुल्ककी जबानको बदलकर अँग्रेजी जबान न कर दें।

अब सवाल यह पैदा होता है कि क्या आप यह मुमकिन समझते हैं कि आपके यहाँ कुल या ज्यादा आदमी कभी भी अँग्रेजी जबान बोलने या समझने लगे? हमें महज अलफाजसे बहकना नहीं चाहिए, जरूरत इस बातकी है कि हम इस मसलेपर गौर करें कि जो हमारी स्वतन्त्रता है उसकी असली सूरत क्या होगी? यह बड़ा सवाल है। इस मजमूनमें सिर्फ उसके एक हिस्सेकी तरफ ध्यान दिला रहा हूँ। क्या जो हमारा स्वराज्य होगा उसके अजजाकी अलग-अलग मुल्की कार्रवाइयाँ किसी एक ही जबानमें होंगी या अलग-अलग कुछ खास जबानोंमें? अगर अलहिदा जबानोंमें होंगी तो दरमियानी जबान कोई एक होगी या नहीं? और अगर कुलकी एक जबान या दरमियानी जबान कोई हो तो वह अंग्रेजी होगी?

जिस तरह पर हमारे मुल्कमें आजकल न सिर्फ सरकारी काम बल्कि हमारी कांग्रेस, सूबा और जिलोंकी कान्फ्रेन्स और मुल्कमें हर जगह तालीम-याफ्ता लोगोंमें अँग्रेजी जबानकी हुकूमत नजर आती है, उससे दूसरे मुल्कका आदमी यही नतीजा निकालेगा कि हमारे रहनुमाओंका यह मकसद है कि हमारे भविष्य स्वराज्यकी जबान अँग्रेजी हो। लेकिन मुझको मालूम है कि हमारे मुल्कके ज्यादातर काबिल लोगोंकी राय यह हरगिज नहीं है कि हमारी मुल्की जबान आइन्दा अँग्रेजी हो या हो सकती है। उनमेंसे बहुतसे कई मौकोंपर देशी जबानोंके हकमें राय दे चुके हैं और तसलीम कर चुके हैं कि हिन्दुस्तानकी बहबूदीके लिए यह जरूरी है कि मुल्की कार्रवाइयाँ पूरी तौरसे देशी जबानोंमें हों। उनमेंसे बहुतसे खुद जुदा-जुदा देशी जबानोंके अच्छे लिखनेवाले हैं।

अमली तौरपर भी वे लोग देख चुके हैं कि पिछले सालोंमें हमारे मुल्की राजनैतिक हालतमें दो इनकिलाब हो गए हैं। उसकी एक बड़ी वजह यह है कि पहले की रफ्तारको किसी तरह छोड़कर मुल्की काम करनेवालोंने आम जलसों और सभाओंमें देशी जबानोंके जरिएसे काम करना शुरू किया है। लेकिन साथ ही यह जाहिर है कि इस बड़े मसलेपर हमारे मुल्की रहनुमा न किसी तयशुदा उसूलपर काम कर रहे हैं और न इस मसलेको मजमुई तौरपर तय करनेकी कोशिश कर रहे हैं। अवामुन्नासकी खुद रफ्तार उनको कहीं-कहीं उनका साथ देनेके लिए मजबूर कर देती है। लेकिन बतौर मुल्की रहनुमाओंके उनका जो जाती फर्ज है उसमें कतई पहलूतिही हो रही है। मैं तो यही कहूंगा कि हमारे दिलोंकी कमजोरी और बुजदिली इसका बाइस है और गालिबके अलफाजमें हमारी तामीरमें ही खराबी की सूरत मुजमिर है।

अब तक जितने लोग अँग्रेजी जबान जानते हैं उनकी तादाद हिन्दुस्तानकी आबादीका लिहाज करते हुए बहुत ही थोड़ी है। जिस रफ्तारसे अँग्रेजी जबान जाननेवालोंकी तादाद अब तक बढ़ी है, अगर उसी हिसाबसे बढ़ती जाए, तो पाँच सौ बरससे ज्यादा अरसा इस बातके लिए चाहिए कि हिन्दुस्तानकी आबादीकी एक माकूल तादाद अँग्रेजी जान सके। लेकिन फिर भी यह सवाल बाकी रह जाता है कि क्या यह कभी मुमकिन भी है कि हमारे यहाँके लोग अपनी जबान छोड़कर अँग्रेजी जबान अख्तियार करें? क्या हमारे स्वराज्यके यह मानी हो सकते हैं कि हम अपनी सभ्यता, अपनी तहजीब, अपना साहित्य आहिस्ता-आहिस्ता भूलनेकी कोशिश करें और अँग्रेजी जबान और तहजीब अख्तियार करें? क्या देशका या दुनियाका फायदा इससे हो सकता है? मेरा जाती ख्याल है, और मेरा यकीन है कि मुल्कके करीब-करीब सभी पढ़े-लिखे लोगोंका यह ख्याल है, कि यह अम्र यानी जबानका बदल जाना न सिर्फ देशके उरूजके खिलाफ है बल्कि नामुमकिन है। चन्द आलिमोंका अँग्रेजी अच्छी तरहसे जानना जरूरी है। जो लोग योरप या अमेरिकामें रोजगार करना चाहते हैं, उनके लिए भी अँग्रेजी जबानकी कुछ इल्मियत जरूरी है, उसी तरह जिस तरह कि गैर मुल्कके लोग भी दूसरे मुल्कोंकी जबान जरूरतकी वजहसे सीखते हैं। लेकिन रोजमर्रहकी मुल्की कार्रवाइयोंमें या तालिब इल्मोंकी तालीममें एक गैर मुल्ककी जबानके जरिएसे काम लेना मुल्कमें कमजोरी, बुजदिली और तकलीफात ही पैदा कर सकती है।

मैं हिन्दी और उर्दूमें फर्क नहीं करता। मेरा पक्का यकीन है कि उर्दू और हिन्दीमें जो थोड़े अलफाजका फर्क है, वह आसानीसे हल हो सकता है। रही और जबानोंकी बात, उनमें बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, तमिल और तेलुगू खास हैं। पंजाबी दर असल हिन्दीका ही एक रूप है, और दोनोंमें नाममात्र ही का फर्क है। पंजाबी जबानमें जो बड़ा साहित्य है वह सिक्ख गुरुओंका मुतफर्रिक कलाम है, उनमेंसे तीन चौथाई ऐसा है जिसको हिन्दी जाननेवाले बखूबी समझ सकते हैं। बल्कि मैं आजिजीके साथ यहाँ तक कहनेकी जुरअत रखता हूँ कि जो महज पंजाबी जबान जानते है, और जिन्होंने हिन्दी साहित्य नहीं पढ़ा, वे लोग उस कलामको उनकी निस्बत ज्यादा नहीं समझ पाते, जो हिन्दी साहित्यसे अच्छी तरह वाकिफ हैं, हालांकि पंजाबी जबानका उन्होंने खास तौरपर मुताला नहीं किया हो। वाकई बात यह है कि गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंहकी बानियोंको समझनेके लिए हिन्दी भाषाकी वाकफियत जरूरी है। या मैं यों कह सकता हूँ कि जो शख्स उन बानियोंको बखूबी समझता है, वह हिन्दी जरूर जानता है। पंजाबी भाइयोंसे मेरी खास तौरपर गुजारिश है कि इस मसलेपर मुल्क और कौमकी बहबूदीके लिहाजसे गौर करें और हिन्दी और पंजाबी जबानको एक करनेमें मदद दें।

गुजराती और मराठी जाननेवाले पढ़े-लिखे लोग ज्यादातर हिन्दी समझते हैं। गुजराती और मराठी साहित्य सम्मेलनोंमें, जिनमें उन जबानोंके शख्श शामिल होते हैं, ऐसे रिजोल्यूशन पास हो चुके हैं कि हिन्दुस्तानकी मुल्की जबान हिन्दी है। बड़े बंगला आलिम भी यह तसलीम कर चुके हैं कि हिन्दोस्तानकी एक जबान हिन्दी ही कही जा सकती है। संस्कृत या प्राकृतसे निकली हुई दूसरी जबानोंकी तरह बंगला और हिन्दीका इस कदर तआल्लुक है कि बंगालियोंके लिए हिन्दी सीखना आसान बात है। रही तेलुगू और तमिलकी बात, इन जबानोंका हिन्दीसे अलबत्ता बहुत फरक है, खासकर तमिलका। लेकिन मुल्कके रिश्तेसे यह कवी उम्मीद की जा सकती है कि मदरासी पढ़े-लिखे लोग मुल्की कामोंमें हिस्सा लेनेके लिए अपनी जबानके साथ हिन्दी भी सीख लेंगे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी तरफसे मदरासमें हिन्दी प्रचारका जो काम हो रहा है और जिस शौकसे मदरासी लोग हिन्दी पढ़नेके लिए कोशिशें कर रहे

है उससे यकीन होता है कि   सवाल जो किसी वक्त दिक्कततलब मालूम होता था, मदरासी भाइयोंकी देशभक्तिकी वजहसे जल्द हल हो सकेगा।

भाषासे तआल्लुक रखता हुआ दूसरा सवाल अक्षर या हरूफका है। इसकी निस्बत यह साफ मालूम होता है कि अगर मुल्क भरके लिए एक किस्मके हरूफ काममें लाए जावे तो वह देवनागरी हरूफ ही हो सकते हैं; क्योंकि वही सबसे ज्यादा फैले हुए हैं और उनमे सब बोलियाँ निस्बतन सबसे बेहतर तरीकेसे अदा हो सकती हैं। मराठी और हिन्दी देवनागरी हरूफमे लिखी जाती है। गुजराती और देवनागरीमे महज दोही एक हरूफकी सूरतोमे फरक है, हकीकत में दोनों एक है। गुरुमुखी अक्षर देवनागरीसे कुछ थोड़ा फरक रखते है, किन्तु गुरुमुखी देवनागरी अक्षरसे ही निकली हैं। ताहम गुरुमुखी जाननेवाले के लिए देवनागरी अक्षर सीखना चन्द घण्टोंकी ही बात है। बंगला और देवनागरीकी वर्णमाला एक ही है, हालाकि अक्षरोंकी सूरतमे फर्क है। लेकिन संस्कृत पढ़नेकी वजहसे ज्यादातर बंगला आलिम देवनागरी अक्षर अच्छी तरह जानते है। मद्रासमे भी संस्कृतके प्रचारकी वजहसे देवनागरी अक्षरोंका अच्छा प्रचार है। हरूफके इस मामलेमे बड़ा सवाल फारसी अक्षरोंका अलबत्ता पेश होता है; क्योंकि उनकी वर्णमाला और सूरत दोनोंमे देवनागरीसे बिलकुल फर्क है, लेकिन इस मामलेमे मुल्की लिहाजसे मेरा ख्याल है कि हमारे मुसलमान भाइयोंको आहिस्ता-आहिस्ता देवनागरी सीखना मुनासिब होगा। इस सवालका मजहबसे तआल्लुक नहीं है, वह मुल्की कार्रवाईकी सहूलियतका मसला है। साथ ही मेरा ख्याल है कि अभी हालमे और बहुत दिनतक हमारी कार्रवाइयाँ नागरी और फारसी दोनों अक्षरोंमें प्रकाशित की जावें। जैसा कि बुजुर्गवार डा. भाण्डारकरने महाराष्ट्र सम्मेलनमे कहा था:—

"अशोक के वक्तमे हिन्दुस्तानमे एक लिपि थी। इसलिए देवनागरीका सब जगह प्रचार सहजमें हो सकता है। रही एक भाषाकी बात, सो हिन्दीके सिवाय और कोई भाषा इस काबिल नहीं।"

महज थोड़े अंग्रेजीदाँकी सहूलियतके लिए एक बिल्कुल गैर जबान सीखनेपर आम लोगोंको मजबूर करना इन्साफके खिलाफ है। आजकलके रहनुमाओंमें महात्मा गांधीने इस मसलेपर अच्छी तरहसे गौर किया है और

उन्होंने साफ-साफ कहा है कि भाषाका मसला   मसला है। लेकिन मुल्कके दूसरे लीडरानसे मेरा मुअद्दिबाना शिकायत है कि वह इस मसलेपर काफी ध्यान नहीं दे रहे हैं और न इसको हल करनेकी कोशिश कर रहे हैं। अगर वाकई कोशिश हो, अगर हम कांग्रेस और मुल्की कामोंमें हिन्दी और अपने-अपने सूबेकी कांग्रेसों और सभाओंमें अपने सूबेकी जबानोंसे काम लें और क्या सरकारी कामों और क्या जाती कामोंमें अपनी जबानपर जोर दें, तो यह मसला हल हो सकता है।

जैसा कि मैंने ऊपर अर्ज किया है इस मसलेका बड़ा जुज यह है कि मुल्क भरमें चारों तरफ हिन्दी और देवनागरीका प्रचार हो। इसका मतलब यह हर्गिज नहीं कि सूबेकी जो खास जबानें हैं, वे छोड़ दी जावें या उनकी तरह तवज्जोह न की जाए। लेकिन यह कि मुल्की ख्यालसे सब तरफ हिन्दी और देवनागरी जाननेवालोंकी तादाद बढ़ाई जाए। उन सूबोंमें जहाँ मुकामी बोलियों और हिन्दीमें ज्यादा फरक नहीं है और जिनका साहित्य हिन्दीमें मिला हुआ है, हिन्दी पर खास जोर दिया जावे, जिसमें जबानका फर्क न बढ़ने पावे बल्कि घटता जाए। मिशालके तौरपर इस किस्मकी बोलियाँ पंजाबी और मैथिली कही जा सकती हैं। जहाँ यह बोलियाँ जारी हैं, वहाँ इस वक्त भी हिन्दी का प्रचार अच्छी तरह पर है। इन बोलियोंका लिखने-पढ़नेके कामोंके लिए हिन्दीके साथ मिल जाना आसान बात है। जहाँ ऐसी जबानें हैं, जिनका हिन्दीसे ज्यादा फर्क है और जिनका एक तरहपर इलाहिदा साहित्य कहा जा सकता है, मसलन बंगला, गुजराती, मराठी, तेलगू और तमील, वहाँ हिन्दी एक दूसरी जबानकी तरह सिखाई जाए। इस पहलूमें आर्य-समाजने बहुत काम किया है। हिन्दीके प्रचारमें उसने बड़ी सहायता की है। पंजाबमें हिन्दीके लिए अगर किसी जमाअतने खास तौरपर काम किया है, तो वह आर्य-समाज है। लेकिन अभी बहुत-सा काम करना बाकी है। स्वामी दयानन्दजीने अपनी तहरीरातके निस्बत कहा है :—

"मेरे ग्रन्थोंका अनुवाद भारतकी अन्य भाषाओंमें न करना चाहिए, किन्तु भारतवासियोंको उचित है कि आर्य भाषा सीखकर उनको पढ़ें। मेरी मातृभाषा गुजराती थी, किन्तु मैंने भारतकी भलाईके लिए ही आर्य भाषामें

ग्रन्थ लिखना उपयुक्त समझा। सब भारतवासियोंको उचित है कि आर्य भाषाकी उन्नति करें।"

आर्य-समाजके लीडरों और भारतवर्षके कुल नेताओंसे मेरी अर्ज है कि इस बड़े उसूलको अपने सामने रखें और अपने मुल्की कामोंमें अमलमें लावें। मैं दिक्कतें तसलीम करता हूँ, लेकिन मेरा यकीन है कि काफी कोशिश, देशभक्ति और त्यागसे यह मसला बिलकुल तय हो जाएगा। इसको तय करते ही आजादीका मूल मन्त्र हमारे काबूमें हो जाएगा।

* * *

गौरवशालिनी हिन्दी

※

प्राचीन हिन्दी-साहित्यकी गतिपर जब हम एक दृष्टि डालते हैं, तब हमको यही मालूम होता है कि, पहले साहित्यमें वीर रसका आविर्भाव हुआ। उसके बाद भक्ति और फिर करुणा और श्रृंगार रसपर ग्रन्थोंकी रचना हुई। साहित्य क्या है ? क्या अन्धाधुन्ध किताबोंका निकालते जाना ही साहित्य है ? साहित्य कोई व्यापारकी चीज नहीं है। क्या लोगोंका यही धर्म है कि वे साहित्यको व्यापारका एक साधन बना लें ? नहीं। इससे भी ऊँचा कोई उद्देश्य है। आप लोग इस बातकी चिन्ता न करें कि हिन्दीमें पुस्तकोंकी संख्या कम है। उसमें पुस्तकोंकी उतनी भरमार नहीं है, जैसी अन्य भाषाओंके साहित्यमें है। अन्य प्रदेशके निवासी— गुजराती, बंगाली इत्यादि— कई सज्जनोंने मुझसे इस विषयमें चर्चा की है, उन्होंने मुझसे पूछा है कि हिन्दीमें साहित्यकी दशा क्या है ? वास्तवमें वे लोग पुस्तकोंके ढेरसे ही साहित्यका अनुमान लगाया करते हैं। वे इसीपर अभिमान करते हैं और अपने साहित्यके सामने हिन्दी-साहित्यको छोटा समझते हैं। परन्तु मैं उसी साहित्यको ऊँचा समझता हूँ, जिसमें ग्रन्थ थोड़े ही हों, किन्तु सुन्दर और ऊँची शैलीके हों। एक हीरा सैंकड़ों काँचोंसे अच्छा होता है। काँचोंकी भी आवश्यकता है, पर उसका

मोल हीरेका नहीं होता अच्छी चीज सदैव थोडी ही होती है। कैसी मर्मकी बात कही है :—

"सिंहनके लेंहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत।
लालनकी नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात॥"

सिंहोंके झुण्ड नहीं होते— सारे जंगलमें सिंह एक ही होता है, हंस भी सर्व जगह पंक्ति बाँधकर नहीं दौड़ते फिरते— कहीं मानसरोवरके समीप कोई एक दिखलाई दे जाता है। लालोंकी बोरियाँ नहीं भरी जातीं। लाल कोई देहरादूनके बासमती चावल नहीं हैं, जो बोरियोंमें भरकर कहीं भेजे जावें। और साधुओंके झुण्ड भी नहीं देखे जाते। प्रयागके कुम्भमें लाखों साधुओंके झुण्ड आप देखते हैं, पर उनमें सच्चे साधु कितने होते हैं? इसी प्रकार साहित्यमें भी रत्न थोड़े ही होते हैं। फिर भी हिन्दी-साहित्यमें रत्नोंकी कमी नहीं है। हिन्दी-साहित्यके कबीर, सूर और तुलसी इन तीन ही रत्नोंको आप ले लीजिए, इनके सामने सारे संसारका साहित्य नहीं टिक सकता। हमारे यहाँ तो और भी बहुतसे रत्न उपस्थित हैं।

प्रायः देखा जाता है कि लोग बंगला या अँग्रेजी इत्यादि अन्य भाषाओंकी किताबोंका तरजुमा कर लेते हैं अथवा दो चार किताबोंके आधारपर ही किताबें लिखते रहते हैं। कई लोगोंने तो अपने हाथोंको किताबें लिखनेकी मशीन बना रखा है और धड़ाधड़ पुस्तकें लिखते चले जाते हैं, पर मैं इसको साहित्य-सेवा नहीं समझता। साहित्य रुपया-पैसा पैदा करनेकी चीज नहीं है, वह जातिके विचारोंको पलटनेका मन्त्र है। मेरा यही नम्र निवेदन है कि लेखक जातीय आवश्यकताको देखकर साहित्य-निर्माण करें। वे ऐसा साहित्य उत्पन्न कर दें, जिससे युग-परिवर्तन हो। आज ऐसे ही युग-परिवर्तनकारी साहित्यकी आवश्यकता है और ऐसा ही साहित्य इतिहासमें स्थिर रहेगा। तुलसी, सूर और कबीर इत्यादिने हिन्दू-जीवनपर जो प्रभाव डाला है, वह सर्वथा अमिट है—आज भी हमारे सामाजिक-जीवनपर उनका प्रभाव मौजूद है।

साहित्यसे जीविका चलाना ही साहित्य-सेवियोंका मुख्य काम नहीं है। जीविकाके लिए और भी अनेक उद्योग तथा व्यवसाय हैं। साहित्य सेवा

समाज-सेवाके भावसे ही होनी चाहिए। उसके साथ यदि साहित्य जीविकाका भी साधन हो जाए तो उचित है; किन्तु केवल जीविकाकी दृष्टिसे कलम चलानेवाले मनुष्य प्रायः साहित्यिक आदर्श भ्रष्ट कर देते हैं। उनके लेखमें ऊँची शक्ति कदापि उत्पन्न नही हो सकती। साहित्यकी गति देशकी गतिके साथ-साथ चलनी चाहिए। आज मैं लेखकोंका एक ही बातपर ध्यान दिलाना चाहता हूँ और वह यह है कि आप जो भी कुछ साहित्य तैयार करें, वह देशकी वर्तमान अधोगतिको पलटनेके लिए हो। उन पुस्तकोंका लिखना, कविताका रचना और तसवीरोंका खींचना किस कामका जिससे हमारे जातीय जीवनपर सुन्दर प्रभाव न पड़े? यदि हमारा सामाजिक-जीवन वैसी ही दीनता और दासतामे जकड़ा रहा, बेड़ियोंमें बँधा रहा, तो वह साहित्य किस काम का? करोड़ों जनताकी दुर्दशाको पलटना आपके ही हाथमें है। आज देशकी क्या दशा है? धर्म बिगड़ा हुआ है, चारों ओर अधर्म छाया हुआ है। यह आपके हाथमें है कि इस युगको पलट दें। जब कभी युगका परिवर्तन हुआ है, सजीव साहित्यके द्वारा ही हुआ है। सृष्टिके आदिसे यह क्रम चला आया है। आज फिर वही काम आपके सिरपर है। यह कोई नवीन काम नही है। इतिहास इसका साक्षी है। अपने प्राचीन साहित्यकी ओर दृष्टि डालिए। एक भगवान् कृष्ण को ही ले लीजिए। उनके जीवनके रहस्यको देखिए। युवावस्थासे ही उन्होने उस समयकी प्रथाओंके दूर करनेमें कितना क्रान्तिकारी काम किया था? बड़े होनेपर उन्होंने गीताके उपदेश द्वारा रणक्षेत्रकी सूरतमें, रणके सिद्धान्तोंमें ही अमिट परिवर्तन कर दिया। अशोक के शासनमें भी साहित्यकोंने ही जातिके जीवनमें परिवर्तन किया था। आपको भी आज अपने साहित्यसे ऐसा ही काम लेना है। साहित्य-निर्माण करते समय आज आप सिर्फ एक ही दृष्टि रखें और वह दृष्टि यही है कि जब आप कोई पुस्तक लिखने बैठें, इस उद्देश्यको सामने रखें कि किस प्रकार यह पुस्तक हमारी जातीयताकी बेड़ियोंके काटनेका कारण हो।

आजकल किताबोंकी कमी नहीं है, लोग किताबें बहुत लिखते हैं, पर असली जीवनकी धारामें मिलकर नहीं लिखते। असली जीवनके बिना लिखना व्यर्थ है। आपका काम केवल लेखनसे ही समाप्त नही हो जाता। आपको जनतापर लेखन द्वारा प्रभाव डालना है। पर यह काम तभी होगा, जब

आप अपना जीवन [illegible] मिला दें, अमली कार्यक्षेत्रमें यदि लेखकगण उतर आवें, तो देशका उद्धार हो जाए। आजकल लेखक जो कुछ लिखते हैं, उसमें उनका निजका हृदय बहुत कम रहता है। उनके लेख और हृदयमें आज अन्तर है। लेखक अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते। आजकल लोग टेबल कुर्सीपर बैठकर लेख लिखना जानते हैं, गद्दी और मसनद लगाकर लिखते हैं, परन्तु युग-परिवर्तनकारी लेख इस प्रकारसे नहीं लिखे जा सकते। वाल्मीकि, व्यास और कृष्णने इस प्रकार गद्दी-मसनदोंपर बैठकर अपने लेख नहीं लिखे थे। भगवान कृष्णने स्वयं युद्ध-क्षेत्रमें अपना सबसे ऊँचा और गुह्य उपदेश दिया था। इस बातकी आवश्यकता है कि लेखकगण मैदानमें आवें, देशकी दशाका अनुमान करें, जनताके साथ उनके कष्टोंका स्वयं अनुभव करें, तब वे जो कुछ लिखेंगे, उसका कुछ और ही प्रभाव पड़ेगा। लेखक लोग जब 'आप-बीती' कहेंगे, तब वह कुछ और ही बात होगी। घरमें बैठे अखबार-नवीसीसे काम नहीं चलेगा। स्वयं अपना अमली जीवन बनाना होगा। जातीयताकी लहरमें अपने जीवनको मिलाना होगा। चन्द कविने वीररसकी कविता की है, पर क्या मसनदोंपर बैठकर? नहीं, खड्ग धारण कर। भूषण कवि स्वयं शिवाजीके साथ युद्ध-क्षेत्रमें उपस्थित रहते थे। फ्रान्स और जर्मनीके घोर समरमें फ्रान्सके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध लेखकोंने युद्धके समय अपनी कलम रख दी थी, और युद्धस्थलमें कूद पड़े थे। जर्मनीके बड़े-बड़े पंडित और लेखक भी युद्धमें गए थे। हमारे देशके पंडितोंकी तरह उन्होंने अपने उपदेश नहीं दिए। हमारे चश्माधारी लेखकोंकी भाँति उन्होंने लेख नहीं लिखे। जब मौका आया, उन्होंने कलम फेंक दी, उसके बदले तलवार खींची, बन्दूक उठाई और शत्रुके हृदयपर गोलियोंसे लेख लिखनेको तैयार हुए। यह उदाहरण देखिए। और हम लोग अभी तरजुमा करने और नकल करनेमें ही लगे हैं। नकलमें क्या धरा है? हृदयसे जो लेख लिखा जाता है, उसीका कुछ प्रभाव पड़ता है, और हृदयमें लेख अमली जीवनके बिना निकल नहीं सकता। रूस के प्रसिद्ध लेखक टालस्टायका नाम हमारे देशमें विख्यात है। उन्होंने भी रणभूमिमें जाकर ही लेख लिखनेकी शिक्षा ली थी। ग्रामीणोंकी तरह जीवन व्यतीत करके गरीबोंके कष्टका अनुभव किया था और तब अपने लेख लिखनेका प्रयास किया। ऐनातोले फ्रान्स

फ्रान्स देशके बहुत ऊँचे लेखकोंमें हुए हैं। जर्मनी और फ्रान्सके महायुद्धके समय वह बहुत वृद्ध थे, उनकी अवस्था लगभग ७५ वर्ष की थी। किन्तु युद्ध आरम्भ होनेपर उन्होंने अपनी गवर्नमेंटसे प्रार्थना की कि उनको समर भूमिमें सिपाही बनकर जानेकी आज्ञा दी जावे। फ्रान्सकी गवर्नमेन्टने उनकी अवस्थाको देख और उनके जीवनको अनमोल समझ उन्हें लड़ाईमें जानेकी आज्ञा नहीं दी। किन्तु फ्रान्सकी जनतापर, वहाँके वीर्यवान् युवकोंपर, इस घटनाका क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसका तो आप अनुमान कर सकते हैं। ऐसे सजीव पुरुषकी वाणी और लेखमें क्या स्वाभाविक शक्ति रही होगी, इसका भी आप कुछ अनुमान कर सकते हैं। हिन्दी साहित्य-सेवियोंसे भी मेरा यही नम्र निवेदन है कि वह अपने जीवनको असली बनावें। तभी हमारे साहित्यमें देश और कालके अनुकूल शक्ति उत्पन्न होगी।

मैं देखता हूँ कि आजकल हमारे देशके कुछ ऐसे साहित्य-सेवी, जिनका ऊँचा पद है, Art और Culture पर बहुत जोर देते हैं, कुछ अँग्रेज लेखक भी इसीकी शिक्षा हम हिन्दुस्तानियोंको दिया करते हैं। Art और Culture कला और शिष्टता मनुष्यके सच्चे भूषण हैं। भारतवासी उनका मूल्य पुराने समयसे जानते हैं, किन्तु वे 'मनुष्यत्व' का स्थान नहीं ले सकते। वे मनुष्यके भूषण हैं 'मनुष्यत्व' नहीं। आजकल तो यह कहा जाता है कि 'मनुष्यत्व' के स्थानपर हम Culture रख रहे हैं—यह अस्वाभाविक है और इसमें तो स्पष्ट हानि ही है। इससे हमारी जातिमें और नामर्दी आती है, असली जीवनसे अलग होकर 'कला' और 'कलचर' की दुहाई विषमें भरी है। और हमें ऐसा कल्चर नहीं चाहिए जिससे हमारे पुंसत्वका नाश हो। निवेदन है कि इस मर्मकी बातपर आप सदा ध्यान रखें।

आजकल लोगोंको पुस्तकोंके पढ़नेका चाव बहुत बढ़ गया है, परन्तु मेरी तो धारणा है कि बहुत पुस्तकोंका पढ़ना कोई 'पुरुषार्थ' का काम नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि पुस्तक पढ़ना कोई बुरा काम है, परन्तु पुस्तक विचारके लिए पढ़ना चाहिए व्यसनके लिए नहीं। शराब, ताश या शतरंजकी तरह पुस्तक पढ़ना भी कभी-कभी केवल व्यसन हो जाता है, यह पुस्तक पढ़नेका

दुरुपयोग है। विचारोंकी प्रौढ़तासे उसका सम्बन्ध होना चाहिए। वाल्मीकि, कालिदास या शेक्सपियर बहुत पुस्तकें पढ़-पढ़कर साहित्यिक नहीं बने थे। रेलके बुकस्टालसे पुस्तकें खरीद कर वे रास्ते भर पढ़ते नहीं जाते थे। उन्होंने किसी और ही मार्गसे अपना साहित्यिक अनुभव बढ़ाया था। ऐसी पुस्तकोंका पठन-पाठन न कीजिए जिससे समय नष्ट हो और आपको अपने जीवनके लिए कोई मसाला भी न मिले। वास्तवमें, हमें साहित्य और जीवनका मेल मिलाना है, हमें ऐसा साहित्य बनाना है, ऐसे साहित्यका प्रचार करना है, जो हमें, देशको उच्च आदर्शकी ओर ले चले।

* * *

कवि और दार्शनिक

*

आजकल विज्ञानके जमानेमें कवि और दार्शनिकके विषयमें जैसी सम्मति प्रकाशित की जाती है, वह अजीब है। कविता एक मनोरंजनकी सामग्री है, और दार्शनिक है प्रहसनका नायक— आश्चर्य होता है जब ये बातें विज्ञानकी ओर लपके हुए किसी भारतीयके मुँहसे निकलती हैं। कुछ लोगोंको ऐसी बातें कहनेवालेकी वैज्ञानिकतापर ही सन्देह होता है। मैं इस बातपर विचार करना चाहता हूँ कि कवि क्या है, दार्शनिक क्या है, इनका कुछ सम्बन्ध भी है कि नहीं और क्या ये सचमुच फुरसतका समय काटनेके उपकरण हैं?

विद्वान् कहते हैं कि कवि अपने समयका प्रतिनिधि है। वह समयकी आवश्यकताओंको प्रकट करता है और जन-समाजकी रुचि पलट देता है। राजपूतानेमें जाइए, वहाँ आप सुनेंगे, अमुक राजाकी सेना आधीसे अधिक मारी जा चुकी थी, बचे सैनिक रणक्षेत्रसे भाग जानेका उद्योग कर रहे थे, इसी समय एक कवि आया, उसने एक पद पढ़ा, सैनिकोंमें वीरता जाग उठी, उन्होंने जबरदस्त हाथोंसे तलवारकी मूठ पकड़ी और शत्रुओंकी पीठ देखी। सवाई रामसिंह के समय एक कवि जयपुर गया, वह महाराजसे मुलाकात करने गया था, पर वहाँ जानेपर उसे मालूम हुआ कि महाराज किसीसे मिलते नहीं,

वे सदा रनिवास ही में पड़े रहते हैं। महाराजकी यह आदत छुड़ानेके लिए अनेक उपाय किए गए, पर वे निष्फल हुए। कवि इन बातोंको सुनकर चुप हो गया, थोड़ी देर तक कुछ सोचता विचारता रहा। कुछ देरके बाद उसने एक कागजके टुकड़ेपर कुछ लिखकर दिया और राजकर्मचारियोंसे उस टुकड़ेको महाराजके पास पहुँचवा देनेकी प्रार्थना की। वह कागजका टुकड़ा महाराज रामसिंह के पास पहुँचा, उन्होंने उसे पढ़ा, उसमें लिखा था—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास एहि काल।
अली कलीही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल।"

इस दोहेने वह काम किया जो बड़े-बड़े मन्त्रियोंके उपदेशोंसे, बड़े-बड़े जागीरदारोंकी सलाहोंसे नहीं हो सका था। महाराज रामसिंह अपने राजकाजमें मन लगाने लगे।

कविके कामको कविता या काव्य कहते हैं। और कविता या काव्य बनानेवाला कवि कहा जाता है, पर ऐसा कहनेसे कविके स्वरूपका ज्ञान किसीको नहीं हो सकता, इसलिए कवि कौन है?—इस बातके जाननेके लिए मुझे दूसरे मार्गका अवलम्बन करना पड़ेगा। अच्छा तो अब सुनिए, शब्दों द्वारा भावोंको प्रकाशित करनेवाला कवि है। कवि शब्दों द्वारा भावका रूप गठित कर देता है, वह उसे एक सुन्दर रूप दे देता है और जनसमाजमें उसे उपस्थित करता है—यही है कविका काम और यही काम करनेवाला कवि है।

पदार्थोंकी दो अवस्थाएं होती हैं। एक आतंरिक और दूसरी बाह्य। बाह्य अवस्थाएँ देखी जाती हैं, उनका प्रत्यक्ष होता है और उनकी विकृति स्पष्ट देखी होती है, पर आंतरिक अवस्थाओंके लिए यह बात नहीं है। आन्तरिक अवस्थाएं अप्रत्यक्ष हैं। वे आँखोंसे या अन्य बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं देखी जातीं। यह बात बड़े खतरेकी है, क्योंकि बुराई प्रारम्भ होती है भीतरसे, प्रारम्भ होनेके समय ही यदि बुराइयोंका ज्ञान हो जाए तो उनका आसानीसे प्रतिकार किया जा सकता है। पर दुःख है, भीतर होनेवाली बुराइयोंके विषयका ज्ञान सर्वसाधारणको बिल्कुल नहीं रहता। हाँ, भीतर होनेवाली बुराइयोंका असर जब बाहर प्रगट होता है, तब सर्व साधारण समझता है, यह बुराई हुई। पर उससे लाभ? दुःख भोगनेसे पिण्ड छूटना कठिन है, व्याकुल होना ही पड़ेगा, दौड़धूप करनेसे किसी अभिज्ञकी सहायता लेनेसे रक्षा हो जाए, यह बात दूसरी है।

यह बात मैंने व्यक्तिका कही है पर समाजकी दशा इससे भिन्न नहीं है। समाजकी भी दो अवस्थाएँ है, एक आंतरिक और दूसरी बाह्य। संगठित समाजके प्रत्यक्ष रूपको बाह्य अवस्था कहते हैं और उसके संगठनके आधारोंका नाम आंतरिक अवस्था है। बाहरी बुराइयाँ सबको मालूम होंगी, पर भीतरी बुराइयाँ सबको नहीं मालूम हो सकतीं, इसीसे समय-समयपर संसारके समाजोंमें उथल-पुथल हुआ करती है और शायद होती भी रहेगी।

इन बुराइयोंका ज्ञान सर्व साधारणको नहीं होता, इससे यह न समझना चाहिए कि इन बुराइयोंकी जानकारी किसीको होती ही नहीं। यह बात नहीं है कि व्यक्तियोंके तो वैद्य है और समाजके नहीं। आजसे अढ़ाई हजार वर्ष पहलेका समय स्मरण कीजिए, भारतीय समाजकी क्या दशा थी? कर्म काण्डके प्रेमी, वेदोंपर कुर्बान होनेवाले प्राणियोंने मनुष्यों तकको कुर्बान करना शुरू कर दिया था। समाज व्याकुल था। दिनों-दिन इसका अधःपतन हो रहा था। धर्मशास्त्रोंपर भारतीय समाजकी वही श्रद्धा थी, वेद वैसे ही पूज्य समझे जाते थे; पर वह आधार जिसपर यह समाज संगठित हुआ था, डाँवाडोल हो गया था। यह बात उस समयके सब लोगोंको नहीं मालूम हुई, ऐसी बात नहीं। राजपरिवारमें पले हुए एक राजकुमारको इसका पता लगा, उसने समाजकी विचलित नींवको दृढ़ करना निश्चित किया। इसलिए राज्य छोड़नेकी जरूरत पड़ी, उसने बड़े आनन्दसे राज्य छोड़ा, वह वनमें गया। अपने कार्योंसे समाजके सामने उसने आदर्श उपस्थित किया, समाजने उस समय उस आदर्शकी उपयोगिता स्वीकार की। वह कौन था, समाजकी भीतरी दशाका ज्ञान प्राप्त करनेवाला कौन वह राजकुमार था? भगवान् बुद्ध।

इसी भारतवर्षमें आजसे पाँच हजार वर्ष पहले भी यही बात हुई थी, उस समय भी भारतीय समाजकी नींव डोल गई थी, और वृन्दावनके कदम्ब-वृक्षोंकी डालोंपर बंशी बजी थी। यह बात हमारे बच्चे भी जानते हैं। ये बंशी बजानेवाले, समाजकी भीतरी दशाका ज्ञान प्राप्त करनेवाले दार्शनिक कहे जाते हैं।

दार्शनिक तत्वज्ञानी होता है। उसे पदार्थोंका तत्व ज्ञात रहता है, वह समाजकी नाड़ीकी गति पहचानता है, उसे यह बात मालूम हो जाती है

कि यह वस्तु तो इन उपादानोंसे उत्पन्न हुई, अतएव इस वस्तुका यह रूप होना चाहिए। यदि वैसा रूप नहीं है, तो इसका यह कारण होना चाहिए। इस प्रकार दार्शनिक समाजकी बुराइयोंके, समाजके अधःपतनके कारणोंका ठीक-ठीक पता देता है। वह समाजका वैद्य समाजके रोगका निदान कर देता है।

दार्शनिकका निदान एकान्तमें होता है, गंगा तीरपर एकान्तमें उसकी कुटी है; वहाँ पशु पक्षियोंको छोड़ और किसीका आना जाना नहीं होता। अतएव उसका निदान भी जन-समाजको नहीं मालूम होता। यदि कवि न होता, तो सचमुच दार्शनिकका निदान यों ही रह जाता, उससे किसीको कुछ लाभ न होता। माना कि दार्शनिककी बातोंसे समाजको बड़ा लाभ होता, पर समाज उसकी बातें जाने तब तो? गंगा तीरवाली दार्शनिककी कुटीमें तो समाजका पैसार नहीं, कवि इस अभावको दूर कर देता है। वह दार्शनिककी कुटीकी गुप्त-से-गुप्त बातोंका पता रखता है, वह समाजके सामने दार्शनिककी बताई बातोंका चित्र खींच देता है। वह संवाद नहीं सुनाता, किन्तु सामने लाकर चित्र खड़ा कर देता है; देख लो और समझ लो, जो तुम्हारे लिए आवश्यक हो वह करो, चित्र तुम्हारे सामने है, इससे तुमको अपने कर्तव्य निर्णय करनेमें बड़ी सहायता मिलेगी।

दार्शनिक भावका वर्णन करता है, भाव कैसे बना है, उसके निर्माणमें किन-किन पदार्थोंसे सहायता ली गई है? बाहरी पदार्थोंको देखकर वह भीतरी पदार्थोंका वर्णन करता है और कवि बाहरी पदार्थोंका वर्णन भीतरी पदार्थोंकी सहायतासे करता है। यही कारण है कि कविकी बातें मनको प्रसन्न करती हैं और दार्शनिकके उपदेश आत्माको बलवान् बनाते हैं।

* * *

भारवि कौन थे ?

✷

भारतीय महाकवियोंकी नामावलीमें महाकवि कालिदास के बाद महाकवि भारवि को स्थान देना उचित है। भारवि की रचना ऐसी सुन्दर है कि स्थान-स्थानपर उनके पदोंका पाठ करते-करते मन विह्वल हो जाता है। सहृदयता और अर्थ-गाम्भीर्यमें तो उन्होंने महाकवि कालिदास का भी अतिक्रम कर डाला है। यह दुर्भाग्यकी बात है कि ऐसे प्रतिभाशाली महाकविका कोई लिखित जीवन-चरित भारतीय साहित्यमें नहीं मिलता। अन्यान्य कवियोंकी जीवन-घटनाओंका आभास किसी-न-किसी रूपमें प्राप्त है, परन्तु भारवि का जीवन-वृत्तान्त सर्वथा विलुप्त है। 'काव्यमाला' में यत्किंचित भारविका वर्णन प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखा है कि महाकवि भारवि ईसवीकी सप्तम शताब्दीके आरम्भमें महाकवि कालिदास के समान ही प्रसिद्ध थे। नितान्त अल्प समयमें किसी कविकी इतनी अधिक प्रसिद्धि किसी प्रकार सम्भव न थी, अतएव पुरातत्ववेत्ताओंका अनुमान है कि सप्तम शताब्दीके प्रथम ही महाकवि भारविकी प्रतिभाका प्रादुर्भाव हो चुका था।

'व्हिना ओरियन्टल जर्नल' नामक मासिकपत्रके तृतीय भागमें शार्दण्य देशीय अध्यापक जाकोबीने भारवि के सम्बन्धमें कुछ बातें लिखी हैं, जिनका

सार-मर्म यह है कि "महाकवि माघ ख्रीष्टीय षष्ट शताब्दीके मध्यभागमें विद्यमान थे, भारवि माघकी अपेक्षा प्राचीन हैं।" शार्मण्य-अध्यापककी इस उक्तिमें कोई विशेष नवीनता नहीं है। अतिकालसे भारतीय पण्डित-समाजकी यह धारणा रही है कि भारवि माघकी अपेक्षा प्राचीन हैं, और भारविकृत 'किरातार्जुनीय' का अनुकरण करते हुए माघने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपाल वध' की रचना की है। विद्वद्वर्य विद्यासागरने भी इस मतका समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त कोई भी विद्वान् व्यक्ति क्रमशः 'किराता-र्जुनीय', तथा 'शिशुपाल वध' का पाठ करके यह समझ सकता है कि भारवि माघसे बहुत पहले हुए हैं। भारविकृत 'किरातार्जुनीय' काव्यके तृतीय सर्गकी अनेक कविताओंके भाव बल्कि शब्द पर्यन्त, माघकृत 'शिशुपाल वध' के प्रथम सर्गमें परिगृहीत हुए हैं। अतएव शार्यण्य-अध्यापक ही क्या, प्रत्येक पण्डितके लिए यह अनुमान कर लेना सर्वथा सहज है कि भारवि माघके पूर्ववर्ती है, और माघने उनकी रचनाका अनुकरण करके 'शिशुपाल वध' काव्यकी रचना की है। इस आलोचनासे निश्चय प्रतीत होता है कि महाकवि भारवि ख्रीष्टीय पंचम शताब्दीके शेष भागमें अथवा षष्ट शताब्दीके आरम्भमें विद्यमान थे।

भारवि के सम्बन्धमें दूसरा आलोच्य विषय उनके निवास स्थानका निरूपण है। महाराष्ट्रके श्री राजाराम रामकृष्ण पण्डितने स्वरचित 'मराठाच्या सम्बन्धानें चार उद्गार' नामक निबन्धमें लिखा है कि "भारवि दक्षिण भारतके निवासी थे। उन्होंने महाराष्ट्र अथवा द्रविड़ प्रदेशमें जन्म ग्रहण किया था।" प्रमाणके लिए उन्होंने 'किरातार्जुनीय' महाकाव्यके अठारहवें सर्गका पाँचवाँ श्लोक उद्धृत किया है :—

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः॥

अर्थात् —"समुद्रकी ऊर्म्मिमाला जिस प्रकार सह्यपर्वतके तटोंसे टक्कर खाती है, उसी प्रकार अर्जुनका मुष्टि-प्रहार महादेव के वक्षस्थलको बारम्बार आहत कर रहा था।"

सह्य पर्वत-मालाएँ महाराष्ट्र ही में हैं, अतएव उपर्युक्त पद्य पढ़नेपर कविकी जन्मभूमि महाराष्ट्र देश होनेमें कोई सन्देह नहीं रहता। बम्बईके

तुकाराम जावजी-द्वारा प्रकाशित किरातार्जुनीय महाकाव्यके सम्पादक महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसादका कथन है कि "यदि सह्य पर्वतका नामोल्लेख पाकर ही भारवि को दक्षिण प्रदेशवासी मान लिया जाए तो दक्षिण भारतके प्रसिद्ध मलय, सह्य आदि पर्वत और गोदावरी, ताम्रपर्णी, कावेरी, प्रभृति नदियोंका वर्णन करनेवाले सुप्रसिद्ध काश्मीरी कवि, 'हर विजय' काव्यके रचयिता, महाकवि रत्नाकरको भी दक्षिण प्रदेशवासी कहना उचित होगा। इसी प्रकार विन्ध्यारण्यके वर्णयिता महाकवि बाणको भी विन्ध्यारण्य-निवासी एक भील समझ लेना पड़ेगा। तदतिरिक्त जिन महाकवियोंने स्वर्ग और पाताल प्रभृतिके विविध वर्णन किए हैं, उन्हें भी स्वर्ग अथवा नागलोकका अधिवासी अंगीकार करना पड़ेगा।" परन्तु अनेक संस्कृत ग्रन्थोंके संशोधक महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद से इस विषयमें हमारा मतभेद है। कारण कि कविमात्र पूर्ण परिचित नित्यदृष्ट वस्तुओंकी ही उपमा दिया करते हैं। 'किरातार्जुनीय' काव्यके अष्टादश सर्गकी कविताओंमें विविध उपमाओंका पाठ करनेपर सहज ही यह अनुमान होता है कि कविने सह्य-पर्वतमालाके पाददेशमें अनेक बार समुद्रकी शोभाका दर्शन किया था। निकटवर्ती स्थान-निवासी कविके लिए बारम्बार समुद्र दर्शन जैसा सुलभ है, वैसा सुदूर-प्रान्त निवासी काव्य-रचयिताके लिए कदापि नहीं। पण्डित दुर्गाप्रसाद 'हर विजय' के प्रणेता काश्मीरी कवि तथा महाकवि बाण और स्वर्ग एवम् पातालका दृश्य वर्णन करनेवाले कवियोंकी बातका उल्लेख करके विशेष चिंताशीलताका परिचय न दे सके। काश्मीरी कवियोंका दक्षिण भारतमें आगमन सदासे प्रसिद्ध है। बाणने अपने 'हर्षचरित' काव्यमें महाराज श्रीहर्षका जीवन-चरित लिखते-लिखते कौशलक्रमसे अपना ही जीवन-वृत्तान्त लिपिबद्ध कर दिया है। स्वर्ग और पातालवासी जन-लौकिक काव्य-रचनाके लिए नहीं आते। अतएव पण्डित महाशयकी उक्तिमें विशेष सारवत्ता प्रतीत नहीं होती।

एक बार अध्ययन-कालके समय इस सम्बन्धमें एक ब्रह्मचारी वेशधारी विद्यार्थीने मुझे, निम्नलिखित किम्वदन्ती सुनाई थी :—

"विदर्भ देश में एक दीन ब्राह्मणके घरमें भारवि ने जन्म-ग्रहण किया। उनके पिता निर्धन होनेपर भी एक सुपण्डित और तेजस्वी ब्राह्मण थे। जन्मके

थोड ही दिनो बाद पिताने पुत्रकी प्रतिभाका परिचय पाकर उसका नाम भारवि रक्खा। भारविने विद्यारम्भके अनन्तर कुछ वर्षों तक विविध शास्त्रोंका अध्ययन किया, परन्तु बादमे यौवनका पदार्पण होते ही कुसंगियोंके संसर्गसे वह उच्छृंखल हो उठा। तेजस्वी पिता कठोर शासनके द्वारा भी पुत्रको सुमार्गपर न ला सका। इसी प्रकार बहुत समय बीत गया। अत्यन्त दु खी होकर वृद्ध पिता अन्तमे भारवि को 'दुर्विनीत' नामसे पुकारने लगे। एक दिन पिताकी अनुपस्थितिके समय भारवि जब घरमे आए तो वृद्धा जननीने नयनोंसे अश्रु बरसाते हुए पुत्रसे कहा —"वत्स, मैं तुमसे कुछ नही चाहती हूँ, एक मात्र यही मेरी हार्दिक कामना है कि तुम्हें विनीत और सुपथगामी देखकर मेरे जीवनका अन्त हो। विधाताने मेरी यह आशा अब तक पूरी नहीं की।" माताके कातर वाक्योसे भारवि को चेत हुआ। उस दिनसे उन्होने समस्त कुसंगतियोका परित्याग कर दिया और मननपूर्वक पुन. अध्ययन आरम्भ किया। इस प्रकार कुछ ही वर्षोंमें उनके पाण्डित्य और कवित्वका सौरभ चारों ओर फैल गया। परन्तु वृद्ध पिता उससे पूर्व ही के सदृश्य व्यवहार करता रहा। स्नेहपूर्ण वाक्योंके द्वारा प्रसन्न करना तो दूर रहा, किसी स्थानपर भारवि की प्रशसा सुननेपर पिता यही कह दिया करते थे कि "आप उसकी प्रशंसा न करे, उसके चरित्रमें अभी कुछ भी सुधार नही हुआ है। अब भी उसे आप एक भीषण जन्तुके समान ही दुष्ट जाने।" इस प्रकार पिताके कटुवाक्य सुनते-सुनते भारवि को एक दिन बड़ा क्रोध आया और वह मन-ही-मन सोचने लगे कि सम्पूर्ण रूपसे सच्चरित रहते और नियत शास्त्रानुशीलन करते हुए भी पिताके व्यवहारके कारण मैं जन-समाजमें मुख दिखाने योग्य न बन सका। अतएव अब पहले पिताके प्राणोंका नाश करके पीछे अपना जीवन भी त्याग देना चाहिए।

इसी निश्चयके अनुसार एक दिन रात्रिको भोजनके उपरान्त पिताका गुप्त भावसे बध करनेके अभिप्रायसे भारवि एक बड़ा पत्थर लेकर घरके ऊपरी भागमे चढ़ गए और पिताके निद्रित होनेकी प्रतीक्षामे वहीं बैठ गए। अभिप्राय यह था कि जब पिता सो जाएँगे तो छप्परका फूस हटाकर उनके मस्तकपर पत्थर डाल देगे। इस ओर वृद्ध पिता सोनेके लिए पलंगपर लेटे थे, वृद्धा जननी नीचे बैठी हुई स्वामीके साथ कुछ वार्तालाप कर रही थी।

उन समय वे कहती थी   देखो भारविका चरित्र सम्पूर्ण रूपसे सुधर चुका है अनेक शास्त्रोंका उसने ज्ञान प्राप्त किया है, पाण्डित्यके कारण जन-समाजमें उसका विशेष सम्मान है, परन्तु तुम्हारे विचारोंमें अभी तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ, तुम उसके प्रति अब तक वैसे ही कठोर बने हो, इसका क्या कारण है ? " उत्तरमें स्वामीने कहा — "तुम हमारे मानसिक भावको न समझ सकी, इसीलिए ऐसा कह रही हो। मैं भारवि की हित-कामनासे उसके साथ बाहर ऐसा कठोर व्यवहार करता हूँ अवश्य, परन्तु वह मेरा एकमात्र पुत्र है, मैं उसे प्राणोंके सदृश्य प्यार करता हूँ। अभी यदि मैं उसका आदर करूं, तो वह अपने आचारकी ओर पुनः ध्यान न देगा और शास्त्रके अध्ययनमें भी विशेष रुचि लेना त्याग बैठेगा, एवम् समझ लेगा कि मैंने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया। उसमें जैसी असाधारण प्रतिभा है, मैं चाहता हूँ कि वैसा ही प्रगाढ़ पाण्डित्य वह प्राप्त करे।"

ये बातें जब भारवि के कानोंमें पहुँची, तो दुःखमें उसका हृदय व्याकुल होने लगा। पत्थर अलग फेंककर वह ऊपरसे नीचे उतरा, और रोते-रोते मातासे द्वार खोलनेके लिए निवेदन किया। जननीके द्वार खोलते ही पुत्र उन्मत्तकी भाँति दौड़कर पिताके चरणोंमें गिर पड़ा। माता-पिता उसकी अवस्था देखकर विस्मित होने लगे। कुछ देरमें सावधान होनेपर भारविने कहा — "पितृदेव ! मैं घोर पापी हूँ, मुझे क्षमा करो, कहिए, मेरे इस पापका प्रायश्चित क्या है ?" माता-पिताने पुत्रके समस्त अपराध क्षमा कर उसे सान्त्वना दी। कुछ दिनमें भारविने अपने 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य की रचना आरम्भ की। कहा जाता है कि इस काव्यकी समाप्तिके पहले ही कविके माता-पिताका परलोक-वास हो चुका था, और काव्य समाप्त हो जानेपर कविने अपने जीवनके मध्य-कालमें ही इस लोकसे बिदा ली।

सुना है कि अन्तिम समयमें भारवि ने अपने काव्यसे एक कविता उद्धृत करके अपनी सहधर्मिणीके हाथमें समर्पित की, और कहा कि "अधिक आवश्यकताके समय इसी कविताको बेचकर अपना जीवन-निर्वाह करना।" कविके देहत्यागके बाद कविकी पत्नी बड़े संकटमें पड़ गई। जीविकाका कोई उपाय न कर सकी। इसी समय एक सन्निकट ग्राम-निवासी धनी वणिकपुत्रने

निश्चय किया कि जो चीजें बाजारमें न बिकेंगी उन सबको मैं स्वयं खरीद लिया करूँगा। कवि-पत्नीने जब यह सुना कि बाजारकी समस्त न बिकने-वाली वस्तुएँ वणिकपुत्र नित्य खरीद लेता है,तो उसके मनमें भी आशाका संचार हुआ। वह स्वामीकी हस्तलिखित कविता लेकर बाजारमें गई और लज्जासे बाजारके एक कोनेमें वटवृक्षके नीचे बैठ गई। धीरे-धीरे बाजार समाप्त हुआ। सब लोग अपने घर चले गए। कवि-पत्नी वहाँ बैठी रही। वणिकके कर्मचारी संध्याको अविक्रीत वस्तुएँ क्रय करके कवि-पत्नीके निकट पहुँचे, और पूछा—"माँ! तुम्हारी कौन वस्तु नहीं बिकी?" कवि-पत्नीने कुछ उत्तर न देकर वही कविता उनके सामने रख दी। कर्मचारियोंने मूल्य पूछा। कवि-पत्नीने कहा, "बीस सहस्र रजत मुद्रा।" इतने अधिक मूल्यकी चीज खरीदनेका अधिकार कर्मचारियोंको नहीं था, अतएव वे कविता लेकर अपने स्वामीके निकट उपस्थित हुए। वणिक-पुत्रने सोच विचार कर बीस सहस्र मुद्रा देकर कविता ले ली। बहुमूल्य कविता विनष्ट न हो, इस लिए उसे अपने महलमें शयन-गृहके चाँदीसे निर्मित दरवाजेके ऊपरी भागमें बड़े-बड़े स्वर्णा-क्षरोंमें लिखाकर रख छोड़ा।

कुछ दिन बाद वणिक-पुत्रको व्यापारके लिए सिंहल-यात्रा करनी पड़ी। उसी समय उसकी नव-वधू पहले पहल गर्भवती हुई थी। जो भारतीय उस समय सिंहलसे व्यापार करते थे, उन्हें वहाँ जाकर अपनी वस्तु बेचने और वहाँकी चीजें लेकर घर लौटनेमें एक वर्ष लगता था। वणिक-पुत्रने अपने पिताकी मृत्युके बाद पहले पहल सिंहलकी यात्रा की थी। अतः अनुभव और सावधानीके अभावसे वह राजकर्मचारियोंके चक्रमें पड़कर बन्दी हो गया। उसके अपराधके निर्णयमें चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। अन्तमें वणिक-पुत्र निर्दोषी ठहराया गया और उसका माल-असबाब, जो ले लिया गया था, लौटा दिया गया। वणिक-पुत्र स्वदेशको लौटा। पहले से अपने आनेका कोई सम्वाद घरपर न भेजा था। नगरमें पहुँच कर अन्धेरी रातमें गृह-प्रवेश किया। द्वारवानोंको किसी प्रकारका गड़बड़ करनेका निषेध करके एकदम अन्तःपुरमें उपस्थित हुआ। गर्मीका समय था, खिड़की खुली थीं, घरमें उजाला फैला था। पलंगके ऊपर उसकी पत्नी सो रही थी। एक पुरुष उसके वक्षःस्थलमें मुँह छिपाए सो रहा था।

उसका मुख दिखाई न पडता था पीछसे देखनेपर युवा पुरुष प्रतीत होता था घरमें एक नौकरानी सो रही थी. यह देखकर वणिक पुत्र क्रोधाग्निमें जलने लगा। खिड़कीके मार्गसे एक लकड़ी डालकर नौकरानीको जगाया और विचार किया कि नौकरानीके द्वार खोलते ही कमरसे तलवार उन्मुक्त करके लेटे हुए पुरुषके शरीरपर आघात करूँगा, पर ज्यों ही घरमें प्रवेश करना चाहा कि इतनेमें शयन-गृहके चाँदीसे निर्मित द्वारपर बड़े-बड़े स्वर्णाक्षरोंमें अंकित निम्न लिखित कविता दिखाई पड़ी :—

"**सहसा विदधीत न क्रियाम्, अविवेकः परमापदां पदम्।**
वृणुतेहि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥"

अर्थात — "सुबुद्धिवाले मानव सहसा कार्य नहीं करते। अविवेक सब तरहसे विपत्तिका कारण है। गुणके लोभसे विवेकी जनोंके निकट लक्ष्मी स्वयम् चली आती है।"

वणिक-पुत्र संस्कृत भाषाका अच्छा पण्डित था। कविता पढ़कर कुछ देर खड़ा रहा। उस समय उसके मनमें आया कि "अपराधी इस समय हाथमें है, अतएव सहसा कायर पुरुषोंकी भाँति सोते हुए व्यक्तिके शरीरपर आघात करना अनुचित है, पीछे इसको देखूँगा।" इस ओर वणिक-वधू भी जाग पड़ी और बहुत दिनों बाद पतिको घरमें देखकर आनन्दित हो पुत्रको जगाकर स्वामीकी गोदमें समर्पित किया। वणिकने देखा कि जिसे मैं परपुरुष समझकर वध करनेके लिए उद्यत हुआ था, वह मेरा ही प्राण-प्रिय पुत्र है। मेरी सिंहल-यात्राके समय पत्नी गर्भवती थी, उसके स्मृतिपथमें यह बात उपस्थित हुई। वणिककी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वह कहने लगा— "मैंने बीस सहस्र मुद्रामें जो कविता क्रय की थी वह आज सार्थक हुई। बीस सहस्र ही क्यों—अनेक लक्ष मुद्रा भी इन अक्षरोंसे तुच्छ हैं।"

* * *

जातीय साहित्य

[जातीय साहित्यका अर्थ साम्प्रदायिक साहित्य नहीं, वरन् राष्ट्रीय साहित्य जो मानव-मात्रके लिए कल्याणप्रद, एक सूत्रमें बांधनेवाला और उच्चादर्शकी प्ररणा देनेवाला हो। इस लेखमें श्री टण्डनजीने, मानव जातिके लिए साहित्यकी क्या उपयोगिता है, अपने विचार व्यक्त किए हैं।]

मनुष्यके समूहका नाम जाति है। जातीय साहित्य मनुष्यके बाह्य एवम् आन्तरिक जीवनका चित्र है। किसी जातिके अधिक सभ्य और समृद्धिशाली होनेका अर्थ है—उसमें अधिकाधिक विद्वान, बुद्धिमान और चिन्ताशील मनुष्योंकी उत्पत्ति। ऐसे मनुष्योंके आभ्यंतरिक और बाह्य उन्नत जीवनका आभास उनके जातीय साहित्यमें विद्यमान रहता है। अतएव मनुष्योंकी समृद्धिके अनुसार ही उनका जातीय साहित्य भी उन्नत और शक्तिशाली बन जाता है। जातीय अवनीतिकी अवस्थामें जातीय साहित्यकी श्रीवृद्धि असम्भव है। जातिकी उन्नति ही से साहित्यकी उन्नति होती है। संसारके सभी देशोंका जातीय साहित्य इसका प्रमाण है। जिस दिशामें जातीय शक्तिका विकास होगा, जिस परिमाणमें कोई जाति जातीय शक्ति प्राप्त करेगी, उसी दिशा और उसी परिमाणमें जातीय साहित्यका नवप्रभात और शक्तिका विकास होगा।

भारतमें समय-समयपर प्राय धार्मिक आन्दोलन होते रहे हैं भगवान बुद्ध, श्री स्वामी शंकराचार्य तथा वैष्णव धर्मके प्रवर्तक आचार्य अपने-अपने समयमें भारतवर्षके साहित्यका कायापलट कर चुके हैं। धार्मिक सुधारोंके लिए उद्योग करनेवाले महात्माओंके द्वारा साहित्यकी उन्नतिका सूत्रपात होता रहा है। परन्तु यह निश्चय है कि साहित्यकी जो सामग्री जातिके हृदयमें गम्भीर वेदना या अनुपम आनन्द उत्पन्न नहीं करती, अथवा जिसकी चोटसे जातिकी चित्त-वृत्तिको पीडा नहीं पहुँचती, जिसके उत्साह-प्रदानमें जातिमें हार्दिक उत्साह, हर्ष और साहस उत्पन्न नहीं होता, साहित्यकी वह सामग्री सर्वसाधारणमें सदैव ही आदरणीय और चिरस्थायिनी नहीं रह सकती।

जातीय कीर्त्तिका अमरत्व जातीय साहित्यपर निर्भर है। जातीय समृद्धि और जातीय साहित्य दोनों ही एक-दूसरेपर अवलम्बित हैं। जो जाति अपने साहित्यको शक्तिशाली बनाना चाहे, उसे पहले स्वयम् शक्ति-शाली बननेका उद्योग करना आवश्यक है। दूसरी ओर यह भी सत्य ही है कि जातीय साहित्यके उद्बोधन और उत्तेजनसे ही जातीय उन्नतिमें सहायता प्राप्त होती है। संकुचित भावोंकी सहायतासे महत् साहित्यकी सृष्टि नहीं हो सकती। मतमतान्तरके भेदभावोंसे पूर्ण सहस्रों ग्रन्थ विद्यमान रहते भी कोई साहित्य अमर, और समग्र जातिमे, आदरणीय नहीं बन सकता। किसी विशेष सीमा तक परिमित रहनेवाले संकुचित भावोंको तिलांजलि देकर जो मानव-हृदय सर्वकाल और सर्वदेशमें एक है उसीको हर्षित, उत्साहित, आनन्दित और आकर्षित करनेके जिस सत् साहित्यकी सृष्टिकी जाती है, वही वास्तवमें चिर-स्थायी और सर्वप्रिय बन सकता है और उसीको कहते हैं— सार्वजनिक साहित्य।

इस प्रकारके सत् साहित्यकी सृष्टिके मार्गमें अनेक बाधाएँ उपस्थित होती है, पर निराश होकर आलस्यकी आवश्यकता नहीं। कठिनाइयोंको दूर करनेकी चेष्टा करना विद्वानोंका कर्तव्य है। संसारकी उदार वायुमें हमारे

अनेक सहृदय साहित्य-सेवी उच्च कोटिके कवि और वैज्ञानिकोंके पथ-गामी होकर विचरण कर रहे हैं। हमारा पथ अधिकाधिक प्रशस्त और परिष्कृत होगा, तथा शिक्षाके प्रसारसे जातीय हृदयमें नवशक्तिका संचार होगा। जिस साहित्यकी सामग्री केवल देश-विशेष अथवा प्रदेश-विशेष तक परिमित हो, अर्थात् केवल एक देश अथवा प्रान्त-विशेषके निवासी ही जिसके रसास्वादनसे तृप्त हों, साहित्यकी वह सामग्री उत्कृष्ट नहीं हो सकती। आदि कवि वाल्मीकि, महाकवि कालिदास और कविवर तुलसीदास की रचनाओंका समग्र भारतमें समान आदर है। अनुवादके द्वारा विदेशी भी उनके काव्योंसे आनन्दका अनुभव कर रहे हैं। कारण यही है कि उनकी रचनाएँ सार्वजनीन हैं, उनका साहित्य जातीय साहित्य है, और उनके विचार, उनके भाव, उनकी काव्य-कलाका प्रसार, उनके उच्च आदर्श किसी देश या प्रान्त विशेष की सीमा तक परिमित नहीं हैं। परभाषाओंमें अनुवाद किसी भी भाषाकी साहित्य श्रेष्ठताका प्रधान लक्षण है। इंगलैण्डके प्रसिद्ध कवि शेक्सपियरकी जाति, भाषा, धार्मिक विश्वास, आचार-व्यवहार, रहन-सहन भिन्न रहते हुए भी हम उसके काव्योंसे अनुवादके द्वारा आनन्द प्राप्त करते हैं, क्योंकि उसके काव्य सार्वजनीन हैं और वे भिन्न मतवालों और भिन्न देश-निवासियोंको आकर्षित और आनन्दित करनेकी सामर्थ्य रखते हैं।

जो विद्वान् मतमतान्तर-सम्बन्धी अथवा विशेष सामाजिक मतोंका प्रचार करनेके लिए विविध ग्रन्थोंकी रचना करते हैं, उनका उद्देश्य सफल हो सकता है, परन्तु उनके ग्रन्थ विशुद्ध साहित्यकी सृष्टिमें सहायता नहीं पहुँचा सकते। महाकवि कालिदास उपर्युक्त विषयोंपर अनेक ग्रन्थोंकी रचना कर सकते थे और ऐसा करना अनुचित एवम् अनावश्यक भी न होता, पर वे रचनाएँ उनके प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के सदृश्य सार्वजनीन लोकप्रिय अथवा एकजातीय कदापि न होतीं। शेक्सपियर क्रिश्चियन मतका अनुयायी था, पर उसके काव्योंमें प्रायः केवल क्रिश्चियन मतसे सम्बन्ध रखनेवाले विचारों या भावोंका समावेश नहीं है। यही कारण है कि उसके काव्य अन्य

ादरका वस्तु है। इसी प्रकार यदि किसी हिन्दू विद्वानके
; भी आनन्दका अनुभव करें, यदि किसी मुसलमान
य मतवाले भी आदर दें, तो मानो उसका साहित्यिक
ेष्ठ और सार्वजनिक साहित्य वही है जो समस्त सभ्य
ओर आकर्षित करनेमें समर्थ हो और समस्त देशों
ा निकट आदरास्पद बन सके।

* * *

भारतीय संस्कृतिका सन्देश

✻

(१)

समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ —ऋग्वेद

आपके भाव समान हों, आपके हृदय समान हों, आपके मन समान हों और आप परस्पर सद्भावसे रहें।

शन्नोवाताः पवतां शन्नस्तपतु सूर्यः ।
शन्नः कनिक्रद्देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु ॥ —युजर्वद

हमारे लिए शान्तिपूर्ण वायु बहे, हमारे लिए सूर्यका ताप शान्ति मय हो और हमारे लिए मेघ शान्तिपूर्ण वर्षा करे।

दानेनादानम् । अक्रोधेन क्रोधम् । श्रद्धयाऽश्रद्धाम् ।
सत्येनानृतम् । एषा गतिः । एतदमृतम् । स्वर्गच्छ । ज्योतिर्गच्छ ॥ —सामवेद

दान द्वारा कृपणतापर विजय प्राप्त करो। शान्ति द्वारा क्रोधपर विजय प्राप्त करो, श्रद्धासे अश्रद्धापर विजय प्राप्त करो। सत्यसे असत्यपर विजय प्राप्त करो। यही सन्मार्ग अमृत है। स्वर्गकी ओर जाओ। प्रकाशकी ओर जाओ।

मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन मा   स्वसा।
जायापत्य मधुमतीं वाच यच्छतु शान्तिदाम्॥   अथर्ववेद

भाइ, भाईसे द्वेष न करे। भगिनी, भगिनीसे द्वेष न करे। पत्नी, पतिसे मधुर वचन बोले और सभीको शान्ति प्राप्त हो।

(२)

भारतीय संस्कृतिका आदर्श स्वरूप एक श्लोक मुझे याद आता है :—

नमे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः
ना नाहिताग्निर्नां विद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

यह रामचन्द्रजीके मुखसे निकला बताया गया है। इसका यह अर्थ है कि मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है, कोई मदिरा पान करनेवाला नही है। कोई ऐसा नहीं है जो अग्निकी रक्षा नही करता हो, कोई मूर्ख नहीं है और कोई व्यभिचारी नहीं है, जब व्यभिचारी नही है तो व्यभिचारिणी कहाँसे हो सकती है। अर्थात् देशमे व्यभिचारिणी भी नही है।

दुःख होता है कि आज वेश्या वृत्तिसे जीविका चलानेवाली लाखों स्त्रियाँ यहाँ विद्यमान हैं। पदे-पदे भ्रष्टाचार है। स्थिति भयावह हो गई है। आज दिल्ली, कलकत्ता और बम्बईको देखकर दुःख होता है। चाणक्यका वाक्य —"शासनस्य मूलमिन्द्रियनिग्रहः", हमारे शासनकी सच्चरित्रता और उसकी पवित्रताका आदर्श था। किन्तु आज क्या दशा है, यह प्रश्न विचारणीय है।

बड़े-बड़े नगरोंमे शराब, सिगार, सिगरेट आदिका अत्यधिक प्रचार है। हमारे कुछ ऊँचे पदाधिकारी लोगोंको भी लाज नही आती जो निर्भीकता पूर्वक इस प्रकारकी वस्तुओंका उपयोग करते है।

जहाँ एक ओर पश्चिमीय भोग-विलास-वृत्तिकी नकल हमें नहीं करनी है, भारतको पश्चिमके देशोंकी प्रतिलिपि नही बनाना है, वहाँ दूसरी ओर, आवश्यकता है कि हम लकीरके फकीर भी न बने रहें। मेलोंमें आकर गंगाजीमें तीन डुबकियाँ लगाने मात्रसे मुक्तिकी इच्छा करना मूढ़ग्राह है। मै इसे भक्तिका चिह्न नही मानता। हमारा धर्म बौद्धिक रहा है। गंगाके दर्शनोंसे हृदय और चरित्रको पवित्र करने और ऊँचा उठानेका प्रयत्न होना चाहिए।

मन्दिर जो देवताका घर है, वहाँ नग्न स्त्रियोंके चित्र ? महान् आश्च
होता है। ऐसी ही कुप्रथाएँ देशको नीचेकी ओर घसीट रही है। हमारे देशमें
प्राचीन कालसे एक ही संस्कृति चली आई है। वह पहले संस्कृत भाषा द्वार
जनतामें आई थी। अब हिन्दी द्वारा उसका प्रचार आवश्यक है।

महाभारतके अनुसार :—

आ समुद्रात्तु वै पूर्वात् आसमुद्रात्तु पश्चिमात्
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संस्कृतिः।

जो भूमि पूर्वकी ओर समुद्र पर्यन्त (समुद्र सहित) और पश्चिमकी ओर समुद्र पर्यन्त (समुद्र सहित) फैली है और जहाँ भारतीय संस्कृति विद्यमान है, उस भूभागका नाम भारत है। यह भारत और उसकी संस्कृतिका चित्र है। वर्ष भूमिके बड़े टुकड़ेका नाम है। इस वर्षमें अनेक राज्य थे। फिर भी इतने राज्योंके रहते हुए हमारी संस्कृति एक थी। आज हमें फिर उसी प्रकार संस्कृतिकी एकता और उसकी व्यापकताका रूप लाना है। हमें बुद्धिके स्तरको उठाकर उसकी रक्षा करनी है।

आज भी व्यवसायी धनको बहुत ऊँचा स्थान देते हैं। वह यह भूल जाते हैं कि मनुने धनको ऊँचा स्थान देना निषिद्ध ठहराया है।

देशमें भ्रष्टाचारका जोर है। अँग्रेजके समयमें तो वह था ही और पराधीनता उसका एक कारण भी समझ पड़ती थी। किन्तु स्वतन्त्र भारतमें भी वह कम नहीं हुआ। इसका मूल कारण भारतीय संस्कृतिका प्रचलन न होना है।

भारत-जैसे धर्मप्राण देशमें रुपएको प्रधानता देना दुःखका विषय है। पश्चिमकी प्राचीन धार्मिक कथाओंके एक पात्र डा. फास्टसने रुपए और भौतिक सुखके लिए अपनी आत्माको शैतानके हाथ बेच दिया था, इसी प्रकार हमने भी अर्थके लिए अपनी नैतिकता बेच दी है। समाजमें धन संग्रहकी भावना बढ़ती जा रही है।

देशके सामने इस समय अनेक समस्याएं हैं, जिनमें भाषाकी समस्या, गौ-रक्षाकी समस्या तथा जीवनमें नैतिक उत्थानकी समस्या भी है। देशका

न्ताका परिणाम था। पराधीनताका सबसे बड़ा
हम विदेशी शासनके कारण अपने नैतिक आदर्शोंके
ाण नहीं कर सकते। देशमें अंग्रेजीकी जड़ोंके जमनेका
अनुसार समाजका निर्माण न कर सकनेकी विवशता
ा दूर करनेके लिए हमने स्वतन्त्रताका भारी संघर्ष
हुए। किन्तु सफलताके बाद मुझे अपने सहयोगियोंके
ाई पड़ा। वे भारतीय संस्कृति और आदर्शोंके
मुझे लगा कि उनके ऊपर अँग्रेजका, पाश्चात्य
की है। यह देखकर ही सांस्कृतिक कार्यकी अतीव

* * *

हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों ?

※

*उत्तर भारतके सिवा अहिन्दी प्रदेशोंके निवासी हिन्दीको बड़ी तेजीसे अपना रहे हैं और इसे राष्ट्रभाषाके स्वरूपमें देखते हैं। वह समझते हैं कि हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसमें हमारे देशकी सब भाषाओंका समन्वय है। यह अच्छी तरहसे ध्यान देनेकी बात है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों है? इसलिए नही कि वह प्रयाग, काशी, लखनऊ या देहली में बोली जाती है, बल्कि इसलिए कि दूसरी संस्कृतियाँ अर्थात् महाराष्ट्र संस्कृति, गुजराती संस्कृति, मद्रासी संस्कृति सब भारतकी एक अखंड संस्कृतिसे हैं और यह अच्छी तरहसे विचार करनेकी बात है, विशेषकर उनके लिए जो राष्ट्रभाषाके प्रश्नका अध्ययन करते हैं और सही अर्थमें राष्ट्रभाषाका स्वप्न देखते हैं, कि हम जिस भाषाको राष्ट्रभाषाका स्वरूप दे रहे हैं, उसमें यह आवश्यक गुण होना चाहिए कि वह अन्य सब देशी भाषाओंके समीप हो। हमारी राष्ट्रभाषाका असली स्रोत हमारी राष्ट्रीयता ही है। यह बात मैं जानता हूँ, क्योंकि मैं इस काममें बहुत वर्षोंसे लगा हूँ। कि हमारी आधुनिक राष्ट्रीयताके उत्थानमें राष्ट्रभाषाकी गहरी सहायता है। जिस भाषाको हमारी जनता समझ नहीं सकती, उससे हमें राष्ट्रीयताकी प्रेरणा कैसे मिलेगी?

बहुत वर्षोंसे मैं इस बातका हामी रहा हूँ कि हमारी हिन्दीमें दूसरी भाषाओंके शब्दोंका समन्वय हो। राष्ट्रीयताकी दृष्टिसे यही उचित है कि हम लोग, जो देश भरमें काम करना चाहते और देशको एक सूत्रमें बाँधना चाहते हैं, दूसरी भाषाओं और उन भाषाओंकी विचार शैलियोंके साथ आदान-प्रदान करनेके लिए तैयार रहें। यह प्रेमसे ही हो सकता है। कई वर्षोंसे ऊपरकी बात है जब संयुक्त प्रान्तमें प्रान्तीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आगरा में हुआ था। मैं उस सम्मेलनका सभापति था। मेरे निमन्त्रणपर वहाँ मौलाना हसरत मोहानी साहब भी उपस्थित थे। मैंने अपने भाषणमें यह चर्चा की थी कि फारसी और संस्कृत एक ही भाषासे निकली है, दोनोंका स्रोत एक ही है, फारसी और संस्कृतका कोई झगड़ा हिन्दी और उर्दूमें न होना चाहिए, क्योंकि फारसी और संस्कृत शब्दोंका बड़ी आसानीसे समन्वय हमारी भाषामें किया जा सकता है। केवल इच्छा और लगनकी आवश्यकता है। फारसीका नाम ईरानी है। ईरानी आर्य भाषा है।

एक बार जेलमें एक फारसीका काव्य पढ़ते समय मुझे यह जाननेका कुतूहल हुआ कि फारसीके कितने शब्द हैं, जिनका कोई स्वरूप संस्कृतमें इस समय भी मौजूद है। जेलमें फुरसतसे बैठा था। मैंने विश्लेषण आरम्भ किया तो मुझको मालूम हुआ कि फारसीके ६० या ७० सैकड़ा शब्द संस्कृत शब्दोंके समीप हैं। अगर ठीक प्रकारसे प्रयत्न किया जाए, शब्दोंका बहिष्कार न किया जाए, तो फारसी और संस्कृत शब्दोंका समन्वय होना कोई कठिन समस्या नहीं है। खुसरोने यह काम किया था। रहीमने किया था। अगर इस प्रकारका क्रम बराबर रहे, तो फारसी और संस्कृत शब्दोंके समन्वयसे हिन्दीका एक ऐसा स्वरूप हो सकता है, जो सबको ग्राह्य हो। चत्वार, चहार और चार, वर्षा और बारिश, मेघ और मेह, सप्ताह और हफ्तह, असुर और अहुर, सिन्धु और हिन्द, हम इन सब शब्दोंका प्रेमसे अपनी भाषामें प्रयोग कर सकते हैं। हमसे 'सप्ताह' के साथ 'हफ्तह' का इस्तेमाल करनेको कहा जाए तो ठीक है, लेकिन यह ठीक नहीं हो सकता कि हमसे सिर्फ 'हफ्तह' कहनेके लिए कहा जाए और 'सप्ताह' का बहिष्कार हो। दोनों शब्द चल सकते हैं। दोनोंका स्रोत एक ही है। इस तरह आगे गंगा-जमुनाके मेलसे एक धाराकी तरह हमारी भाषा बह सकती है, लेकिन संगम करनेके लिए प्रेम चाहिए।

पहले पहल हमारी भाषाके लिए 'हिन्दी' शब्द मुसलमानोंने दिया। कुरानका पहला अनुवाद जो हमारी भाषामें हुआ उसकी भूमिकामें अनुवादकी भाषा 'हिन्दी' कही गई थी। हैदराबाद दक्खिनीमें फ़ारसी-अरबी मिश्रित गजलोंकी भाषाको भी पहले हिन्दी ही कहते थे। मैं महाराष्ट्रीय भाइयोंसे, बंगीय भाइयोंसे और गुजराती भाइयोंसे कहता हूँ कि राष्ट्रीयताके लिए आप हिन्दीको आगे बढ़ाएँ। जस्टिस शारदाचरन मित्र और जस्टिस कृष्णस्वामी अय्यरने अपने-अपने प्रान्तमें इसको अपनाकर चलानेका प्रयत्न किया था। यदि राष्ट्रीयताके नाते कोई चीज छोड़नी पड़े, जिसके छोड़नेसे राष्ट्रीयता बढ़ सके, तो मुझे वह स्वीकार होगी। लेकिन यह एक तरफसे नहीं हो सकता। यह तो दोनों तरफसे होना चाहिए। अगर एक तरफसे तिरस्कार और बहिष्कार है तो भाषाका मेल सम्भव नहीं होगा। लखनऊमें उर्दूके एक कवि नासिख साहब हुए हैं। उन्होंने यहाँ तक किया कि हिन्दीके शब्दोंकी एक सूची तैयार की और फैसला दिया कि उर्दू साहित्यमें उन शब्दोंका प्रयोग न हो। इन शब्दोंको उन्होंने 'मतरूक' कहा। इस प्रकारसे देशी शब्दोंको छोड़ विदेशी शब्दोंको विशेष रीतिसे लाकर एक नकली जबान किसी दूसरे साहित्यने नहीं गढ़ी। इन नासिख साहबको उनके एक शिष्यने सीराजके सादी और हाफिजसे भी बढ़कर बताया है। आपने फरमाया है :—

"बुलबुले शीराजको है रश्क नासिखका सुरूर
असफेहाँ इसने किए हैं कूचहाए लखनऊ।"

लखनऊकी भाषाकी दृष्टिसे ईरानका एक नगर बनाना इनको एक ऊँचा आदर्श दिखाई दिया। आज भी हमारे कुछ भाई इसी भावनासे काम करना चाहते हैं। अगर यही भावना है, तो समन्वयकी चर्चा व्यर्थ है। मैं तो हिन्दू और मुस्लिम दोनों शब्दोंको मिटानेके लिए तैयार हूँ, अगर सब अपनेको केवल हिन्दी या हिन्दुस्तानी कहने लगें। मैं राष्ट्रीयताके नामपर इसे स्वीकार करूँगा और उचित समझूँगा।

हिन्दीके द्वारा राष्ट्रीयताकी भावना जागी है। कांग्रेसकी पहुँच जनताके पास मुख्य करके इसीके द्वारा हुई है। पहले कांग्रेसमें अंग्रेजीका ही जोर रहता था। कांग्रेसका कांस्टीटयूशन, कांग्रेसके कागज पत्र, कांग्रेसकी कुल कार्यवाही

[illegible] भी [illegible] थे। प्राय सभी [illegible] पतलून और टोप लगाकर आते थे और लच्छेदार अंग्रेजी भाषामें ठाठके साथ बोलते थे और वहाँपर उनके कामकी इतिश्री थी। उस समय वहाँ केवल अँग्रेजीका ही बोलबाला था। मैंने कई बार यह प्रयत्न किया कि वहाँ अँग्रेजीका बोलना बन्द हो जाए, क्योंकि मुझे स्पष्ट दिखाई पड़ा कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रताके लिए अंग्रेजी भाषा द्वारा काम करना हानिकर है। अँग्रेजीमें अपने घरका काम कर आप स्वयं अपने मुँहसे पुकारते हैं कि हम गुलाम हैं, गुलाम हैं। इस तरहसे राष्ट्रीयताकी आशा करना व्यर्थ है। राष्ट्रीयता फैलानेके लिए खाली प्रस्ताव पास करना नहीं है, बल्कि उसके लिए हृदयमें एक चिबाड़ उठती है, एक प्रकारकी जलन होती है कि जनतासे उनके शब्दोंमें बातें करें, उन तक अपना सन्देश पहुँचाएँ।

मेरा नाम लेकर कुछ भाइयोंने कहा है कि मैंने 'हिन्दुस्तानी' शब्दका प्रयोग हिन्दीके अर्थमें किया है। यह तो अर्थका अनर्थ करना है। कानपुर-काँग्रेसमें मेरे प्रस्तावपर काँग्रेसके कांस्टीट्यूशनमें यह रखा गया था कि काँग्रेसका काम हिन्दुस्तानीमें हो। वहाँपर हिन्दुस्तानी शब्दका अर्थ स्पष्ट था। वहाँ हिन्दी और उर्दू दोनोंके रूपसे मतलब था। उस समय विषय था अँग्रेजीके स्थानपर अपनी भाषाका प्रयोग। सच बात तो यह है कि काँग्रेसने इस ओर कोई प्रयत्न नहीं किया कि अँग्रेजी हट जाए और हिन्दी और उर्दू उसका स्थान ले। महात्माजीके बारेमें यह बात नहीं लागू है। किन्तु काँग्रेसका अब भी मुख्य काम अँग्रेजीमें होता है। मैंने इसी अँग्रेजीको हटानेके लिए यह उद्योग किया था और यह शब्द 'हिन्दुस्तानी' धराया था। जैसा कि मैंने कहा है, मैं सदा समन्वयके लिए तैयार हूँ। लेकिन यह दोनों ही तरफसे हो सकता है और अगर ऐसा नहीं हो सकता, तो मैं हिन्दीके साहित्यिकोंसे कहूँगा कि अपने मार्गपर आप आगे बढ़े चलें जाएँ, अपना कर्तव्य निबाहें और हिन्दीकी आन्तरिक शक्तिपर भरोसा करें।

अपने भाइयोंको मैं सचेत करना चाहता हूँ कि वह मोम न बनें और आसानीसे पिघल न जाएँ। छोटी-छोटी-सी बातोंके ही लिए हम अपनी भाषाको या संस्कृतिको न बदलें। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि समयपर चीजें बदलती हैं — "समयभेदेन धर्मभेदः"। मैं समयकी आवश्यकताको देखकर परिवर्तनका

पक्षपाती हूं। हमारे यहां बहुतसे संस्कार पुराने जमानेसे चले आते हैं और उनके विरोधमें हमें मुंह खोलना भी मुश्किल हो जाता है, जैसे कुछ जातियोंमें विवाह-शादीमें लड़केका गदहेपर बैठाया जाना या कुम्हारका चक्का पुजाया जाना। मेरे कुटुम्बमें यह गदहा वाली प्रथा तो नहीं है, पर कुम्हारवाली रीति अवश्य है। उसके विरोधमें जब मैंने अपनी माता और स्त्रीसे कहा कि ऐसा न किया जाए, तो उनका यह उत्तर होता रहा है कि हमारे यहां यह रीति परम्परासे चली आ रही है। उसका परम्परासे चला आना ही उनके लिए पर्याप्त दलील थी। मेरा कहना है कि हमें इन मूढ़ग्राहोंसे बचना चाहिए और बुद्धि तथा विवेकको अपने कामोंमें अधिक स्थान देना चाहिए। भाषाका भी स्वरूप बदलता रहता है। जो बालकृष्ण भट्टकी भाषा थी वह अब नहीं है। विचार और शैली दोनोंमें परिवर्तन हो रहा है। लेकिन दूसरोंसे घबड़ाकर या दुर्बलताके कारण हमको कोई परिवर्तन स्वीकार करना नहीं है। हममें हीनताका वायुमण्डल बनना नहीं चाहिए। बुद्धि और विवेकसे काम लेना है। हमारी भाषामें मराठी, तामील, तेलूगू, गुजराती सबके शब्द प्रयुक्त होंगे और हमारी भाषा इन नए शब्दोंसे प्रौढ़ होती जाएगी और उसकी भाषा शक्ति बढ़ती जाएगी। मैं तो यह चाहता हूँ कि हमारे हिन्दी मंचपर कोई साम्प्रदायिक भावना न हो, कोई भी ऐसी भावना पैदा न हो जिससे हमारी राष्ट्रभाषाके उत्थानमें हानि पहुँचे। इस दृष्टिसे हम ईसाई, यहूदी, मुसलमान, पारसी सब भाइयोंका आदर करेंगे। अँग्रेजीका भाषा स्वरूप भी हर मुल्कमें अलग-अलग है। अमेरिकामें तो उसमें बहुत ही अन्तर आ गया है। किन्तु अँग्रेजीवाले बड़े अभिमानसे कहते हैं कि हमारी भाषाके २०-३० करोड़के लगभग बोलने-वाले हैं। हमारी भाषाके बोलनेवाले इस समय ३०-४० करोड़ हैं। यह संख्या बराबर बढ़ रही है। इस प्रस्तारके कारण जो परिवर्तन आवश्यक है हम उनसे भय नहीं खाएँगे। उनका हम स्वागत करेंगे। वे हमारी भाषाके प्यारे अंग बनेंगे और उसकी शक्ति बढ़ाएँगे। किन्तु परिवर्तन भयसे या दब कर नहीं हो सकता। उसके पीछे दृढ़ विचार और भावना होनेसे ही वह सफल होगा।

* * *

हिन्दी विवाह-पद्धति

हमारे समाजके साधारण व्यक्तियोंमें संस्कृत भाषाका ज्ञान बहुत वर्षोंसे नहीं है। परन्तु हिन्दुओंके संस्कार संस्कृतमें होते हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि जिनका संस्कार होता है अथवा जो पिता-माता तथा सम्बन्धी अपने घरके युवकों और युवतियोंका संस्कार उत्साहसे करते हैं, वे नहीं समझते कि संस्कार करनेवाले पुरोहित या उपाध्याय संस्कार करानेमें क्या कहते हैं।

संस्कारोंमें विवाह मुख्य है। इसमें दो प्राणियोंका संस्कार मिला रहता है और साथ होता है। वर और कन्याकी ओरसे पुरोहित अथवा उपाध्याय विवाह पद्धतिकी पुस्तकसे विवाहके मन्त्र और साधारण विधि संस्कृतमें पढ़ते जाते हैं अथवा स्मरणसे कहते हैं और कभी-कभी कन्याके पिता अथवा वर या कन्यासे जल छिड़कवाते हैं अथवा पुष्प या दूसरी वस्तु या पैसा चढ़वाते हैं या अन्य मांगलिक कृत्य कराते हैं। कभी-कभी कोई कुछ अर्थ भी कर देते हैं। परन्तु आरम्भसे अन्त तक सिलसिलेवार क्या कहा गया यह न वर और अन्य समझ पाते हैं और न दूसरे लोग।

मेरी बड़ी लड़की और बड़े लड़केका ब्याह भी इसी प्रकार हुआ। मेरी दूसरी लड़कीका ब्याह सन् १९३१ के आरम्भकालमें होनेवाला था। उससे

पहले मेरे ध्यानमें यह आया कि ब्याह संस्कार द्वारा दो प्राणी जीवन भरके लिए जिन वाक्यों और कथनों द्वारा अपनेको एक-दूसरेसे बांधते हैं, वे उन्हीको स्वयं अपनी भाषामें कहने चाहिए, जिससे वे उनका महत्व और अपना दायित्व अच्छी तरह समझें। यह ध्यान आनेपर जैसे-जैसे विचार इसकी ओर गया, मेरा मत यह दृढ़ हुआ कि विवाहका कुल शुभ कृत्य हिन्दीमें होना चाहिए, जिसे लोग समझें। मैंने विवाह पद्धति समझनेका यत्न किया। देखा कि विवाहमें पुरोहित अथवा उपाध्यायकी ओरसे वचन या वाक्य बहुत कम हैं, अधिक अंश वर और कन्याके ही करने और कहनेका है। साथ ही यह भी पता लगा कि साधारण ब्राह्मण जो विवाह कराते हैं, बस मंत्र आदि दुहरा देते हैं, वैदिक मंत्रोंका अर्थ नहीं करते। मैंने एक अपने जाने हुए ऐसे संस्कृतज्ञको बुलाया जिनके सम्बन्धमें यह भरोसा हुआ कि वह वैदिक मंत्रोंका शुद्ध अर्थ कर सकेंगे। उनको मैंने अपना प्रयोजन बताया कि मैं हिन्दीमें अपनी कन्याका विवाह कराना चाहता हूँ और वैदिक मंत्रोंका अर्थ हिन्दीमें चाहता हूँ। उन्होंने सहायता देना स्वीकार किया। वह मेरे स्थानपर कई दिन आए और हिन्दीमें मंत्रो आदिके अर्थ उन्होंने किए। मैं भी प्रायः साथ बैठकर अर्थ कराता था और हिन्दी भाषा में अपने क्रमसे रखता था। इस प्रकार लिखनेकी एक पुस्तिकामें विवाह पद्धति स्पष्ट लिखी गई। उसीके अनुसार मैंने स्वयं बैठकर अपनी दूसरी कन्याका विवाह कराया। विवाह सबेरेके समय हुआ था और घरके तथा बाहरके व्यक्ति अच्छी संख्यामें रुचिसे देखते और हिन्दीके वचनोंको सुनते गए। पीछे कई लोगोंने कहा कि उन्हें तो अनुमान ही नहीं था कि विवाहमें ऐसी अच्छी बातें हैं। हिन्दीमें विवाह नया क्रम था और यह लोगोंको पसन्द आया। दोनों पक्षके पुरोहित, उपाध्याय आदिने कृत्य करानेमें सहायता दी, परन्तु वचन सरल हिन्दीमें कहे गए और वर और कन्याको जो वचन कहने थे, वे उन्होंने स्वयं लिखित पुस्तिका की सहायता से कहे।

कुछ दिनों बाद उन पंडितजीने, जिनसे मैंने अनुवाद करानेमें सहायता ली थी, मुझसे मेरी हस्तलिखित पुस्तिका मँगाई। उन्होंने बिना मेरी सलाहके एक विवाह पद्धति छपाई जिसमें मूल संस्कृत और साथ ही मेरी पुस्तिकासे अनुवाद भी दिया। मेरे एक मित्रने अपने घरके किसी विवाहके लिए मेरी

हस्तलिखित पुस्तिका मगाई उन्होंने बहुत देरमें लौटाई परन्तु वह पुस्तिका खो गई। अपने पुत्रोंके विवाहके लिए मैंने छपी हुई पुस्तकका उपयोग किया। कानपुर के मेरे एक मित्रने अपने पुत्रके विवाहको हिन्दीमें करानेके लिए छपी पुस्तिकाका आधार लेकर एक पुस्तिका हिन्दीमें छपाई। विवाह दिल्ली में हुआ था और मैंने उस विवाहके करानेमें भाग लिया था। मैंने अपनी पुस्तिकाके खो जानेके कारण अपने दो पुत्रोंके विवाहके अवसरपर टाइप द्वारा लम्बे पत्रोंपर फिरसे विधि लिखाई। मेरी पौत्रीका विवाह था। विवाहसे कुछ दिनों पहले मेरा यह विचार हुआ कि फिरसे विवाह पद्धति लिखा दूँ और उसीकी सहायतासे विवाह किया जाए। अतः मैंने पुरानी टाइप की हुई पद्धति तथा छपी हुई पुरानी प्रतिकी सहायतासे विवाह पद्धतिकी पुस्तिका लिखाई।

इस विवाह पद्तिमें मुख्यतः वैदिक मंत्रों और पुरानी पद्धतिका अनुवाद है। बहुत कम अन्तर किया गया है। कई स्थलोंपर भाव पुरानी शैलीके असाधारण हैं। मेरे मनमें आया कि कुछ परिवर्तन इसमें करूँ, परन्तु इसमें विचार, परामर्श और समयकी आवश्यकता थी। साथ ही हिन्दी पद्धतिकी माँग थी। मेरी आशा है कि इसमें परिवर्तन समयके अनुकूल होगा और धीरे-धीरे हिन्दीमें विवाह करानेका क्रम बढ़ेगा और वर कन्या अपने कहे वचनोंका मर्म समझेंगे और अपने जीवनमें उनको महत्व देंगे।

—पुरुषोत्तमदास टण्डन

हे जगन्नियन्ता! हे अनामी पुरुष! हमारी प्रार्थना है कि इस विवाहको आप अपनी दयासे मंगलमय बनाएँ, हमारे विचार और हमारे कर्म ऐसे हों, जिनसे आप प्रसन्न हों और जो हम सबोंका कल्याण करें।

वर का आगमन

कन्याका पिता—आप इस आसनपर सुख-पूर्वक विराजमान हो जाइए। (एक शुद्ध काष्ठका आसन देते हुए) यह विष्टर लीजिए।

(आसनपर बिछानेके लिए कुशकी चटाई दे।)

वर—बहुत अच्छा स्वीकार करता हूँ। (कन्याका पिता दहीका तिलक वरके ललाटपर लगाए)।

कन्याका पिता—यह पैर धोनेके लिए जल-पात्र है (ऐसा कहकर दूर्वा, अक्षत, पुष्प सहित जल-पात्र वर को दे)।

वर—बहुत अच्छा, ले रहा हूँ (ऐसा कहकर जल-पात्र ग्रहण करे और पहले बायाँ पैर धोए, पीछे दाहिना पैर धोए और यह कहे) हे जल! तुम विशेष रूपसे शरीरमे पुष्टि देनेवाले और अन्नके सारभूत रस हो, तुम मेरे पैरोंकी रक्षा करो, उनकी कान्ति बढाओ।

कन्याका पिता—यह दूसरा विष्टर लीजिए। (ऐसा कहकर वह वरके लिए एक दूसरा विष्टर दे और वर उसको चुपचाप अपने पैरोंके नीचे रखे।)

कन्याका पिता—यह आपके लिए अर्घ है, लीजिए। (दूर्वा, अक्षत, पुष्प, चन्दन, जल सहित अर्घ-पात्रको लेकर वरको दे)।

वर—सादर स्वीकार करता हूँ। (पात्र हाथमे लेकर उस अर्घके जलसे मस्तकपर अभिषेक करता हुआ कहे)

हे जल! तुम आरोग्य-प्रद हो, तुम्हारे द्वारा मै आरोग्य प्राप्त करूँ और अपनी समस्त कामनाओंको सफल करूँ। (अर्घका शेष जल ईशान कोणमे पृथ्वीपर फेंक दे।)

कन्याका पिता—यह आचमन करनेके लिए जल है, इसे लीजिए।

(ऐसा कहते हुए शुद्ध जल वरको समर्पित करें।)

वर—बहुत अच्छा, ले रहा हूँ।

(यह कहकर उस जलसे आचमन करते हुए यह मंत्र कहे :—)

"हे जलाधिपति परमात्मा! मै आपको प्राप्त होऊँ। मेरा यश बढ़े। और मै आपका आश्रित होकर तेजस्वी बनूँ और पुत्र पौत्रादिकोंका प्रेमी बनूँ, गौ आदि पशुओंका स्वामी बनूँ, और जलके द्वारा अपने शरीरके अवयवोंका अरिष्ट दूर करूँ।"

कन्याका पिता—(काँसेके पात्रमें दही तीन तोला, घृत एक तोला और मधु एक तोला मिलाकर ऊपरसे काँसेके पात्रसे ढककर दे।) यह मधुपर्क है, इसे लीजिए।

वर—अच्छा, ग्रहण कर रहा हूँ। (मधुपर्कको कन्याके पिताके हाथमें देखता हुआ यह मंत्र पढ़े)

हे मधुपर्क, ऐश्वर्यके लिए मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। सूर्य और चन्द्रमाकी तरह मैं बल पाऊँ।"

(वर मधुपर्कका पात्र लेकर बाएँ हाथकी हथेलीमें रख ले, फिर दाहिने हाथके अँगूठे और अनामिकाको मिलाकर मधुपर्कको मिलाए और पृथ्वीपर तीन बार छींटा दे। फिर यह मंत्र पढ़ता हुआ उसे खाए :—)

"अन्नके समान भोजन योग्य वस्तुको ग्रहण करता हूँ, और मधुपर्कमें जो त्याज्य वस्तु है उसे हटाता हूँ।"

(ऐसा कहते हुए तीन बार खाए और बचे उसे पूर्व दिशामें फेंक दे अथवा सब खा जाए। तब आचमन करके वर अंगन्यास करे और फिर दाहिने हाथकी तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अंगुलियोंको मिलाकर उनके अग्रभागको अपने मुखपर रखकर कहे—)

"मेरे मुखमें सदा वाणीका निवास हो।"

(पुनः हाथ धोकर अँगूठे और तर्जनीसे नासिकाके दोनों छिद्रोंका स्पर्श करते हुए कहे—) "मेरी नासिकामें प्राण वायुका संचार सदा बना रहे।" (पुनः उसी प्रकार अँगूठे और अनामिकासे) "मेरे नेत्रोंमें दर्शन करनेकी शक्ति बनी रहे।" (यह कहता हुआ दोनों नेत्रोंका स्पर्श करे) और "मेरे कानोंमें सुननेकी शक्ति सदा बनी रहे" (यह कहता हुआ दोनो कानोंका स्पर्श करे।) पुनः सभी अँगुलियोंके सम्मिलित अग्रभागसे "मेरी इन दोनों बाहुओंमें विपुल बल विद्यमान रहे" (कहता हुआ दोनों बाहुओंका स्पर्श करे।) फिर दोनों हाथोंसे दोनों जंघाओंका स्पर्श करते हुए यह कहे "मेरी इन दोनों जंघाओंमें पर्याप्त दृढ़ता और शक्ति सर्वदा बनी रहे।" (फिर सिरसे लेकर पैर तक सभी अंगोंका दोनों हाथोंसे स्पर्श करते हुए यह कहे—) "मेरा यह शरीर अपने समस्त अंगों समेत सर्वदा हृष्ट-पुष्ट और नीरोग बना रहे।"

क्षका आचार्य अथवा वर—(शुद्ध भूमिमें चौकोर एक हाथ लम्बी इतनी ही चौड़ी और चार अँगुल ऊँची बनी हुई मिट्टीकी वेदीको कुशोंके अग्रभागसे बटोरकर साफ करे और उन कुशोंको ईशान कोणमें

फेंक दे। पुनः जल और गोबर मिलाकर वेदीको लीपकर स्वच्छ करे और स्रुवाके नोकसे पूर्वाभिमुख होकर दक्षिणसे आरम्भ कर उत्तरकी ओर तीन रेखाएँ खींचे। पुनः अँगूठे तथा अनामिकासे उन रेखाओंसे निकली हुई मिट्टीको उठाकर बाहर फेंक दे और पुनः जल छिड़क कर उसीपर ताँबे या काँसेके पात्रसे अग्नि कोणसे अग्नि मँगवाकर वेदीपर स्थापित करे और यह मंत्र पढ़े—"हे देवताओंके दूत! हवनीय पदार्थोंको वहन करनेवाले जिस अग्निको मैं अपने सम्मुख इस वेदीपर स्थापित कर रहा हूँ उससे यह प्रार्थना कर रहा हूँ कि समस्त देवताओंको हमारे इस यज्ञमंडपमें बुलावे।"

(इस प्रकार अग्निकी स्थापना हो जानेपर उसमें लकड़ी या उपले रख दें जिससे बीचमें बुझनेकी सम्भावना न रहे।)

(इस अवसरपर कन्याका पिता वरको चार वस्त्र प्रदान करे, जिनमेंसे वर दो वस्त्र कन्याको देते हुए निम्नलिखित मंत्रका पाठ करे—)

"हे मंगले! तुम मेरे साथ रोग-दोषादिसे रहित होकर वृद्धावस्था तक बनी रहो। मेरे दिए हुए इन वस्त्रोंको धारण करो। अपनी ओर आकर्षित होनेवाले दुष्ट स्त्री-पुरुषोंके फंदेसे अपनी और मेरी रक्षा करनेवाली बनो। पूर्णायु प्राप्त करो। तेजस्विनी होकर धन-पुत्रादि का संग्रह करती हुई उनकी रक्षामें तत्पर रहो।

हे दीर्घायुष्मती! मुझसे दिए गए इन वस्त्रोंको तुम इसी पवित्र उद्देश्यसे धारण करो।" (तदनन्तर कन्यादाता निम्नलिखित मंत्रका पाठ करते हुए स्वयं अथवा अन्य सौभाग्यवती स्त्रियाँ कन्याको वस्त्र पहनावें। पर मंत्र कन्यादाता ही पढ़े।) मंत्र :—

"जिन सौभाग्यशालिनी स्त्रियोंने तुम्हारे इस वस्त्रके सूतको काता है, जिन्होंने इसे बुना है, जिन्होंने इसे संयुक्त कर वस्त्र बनाया है और जिन्होंने सीने-पिरोनेमें सहायता कर इसको उत्तम रूपमें प्रस्तुत किया है, वे सब तुम्हारे लिए सर्वदा ऐसे वस्त्र दीर्घ जीवन पर्यन्त बनाती रहें। हे आयुष्मती! इन आशाओंसे तुम इस वस्त्रको धारण करो।"

(पश्चात् वर अपने वस्त्रको पहनते हुए यह मंत्र पढ़े)— हे वस्त्र ! तुम सुख, आरोग्य एवं पुष्टि देनेवाले हो। अतः अनेक अच्छे वस्त्र धारण करने तथा यश एवं दीर्घायु प्राप्त करनेके लिए मैं तुझे धारण कर रहा हूँ। तेरे संयोगसे मैं सौ वर्ष तक जीवन धारण करूँ।"

(कुर्ता और दुपट्टा पहनते समय यह मंत्र पढ़े —)

"हे उत्तरीय वस्त्र ! पृथ्वी, आकाश, इन्द्र, बृहस्पति प्रभृति देवगण मुझसे यश प्राप्त करनेका कार्य करावें। इनकी कृपासे मुझे यश मिलता रहे।"

(तदनन्तर वर-कन्या आचमन करके बैठें। अब कन्या वरके दाहिने भागमें हो। कन्या-पिता द्वारा आज्ञा प्राप्त कर दोनों एक-दूसरे-का निरीक्षण करे, और साथ ही अथवा अलग-अलग निम्नलिखित मंत्रका पाठ करे.—

"विश्वदेवगण ! हमारे हृदय और विचार जलके समान निर्मल और स्वच्छ हों। जैसे प्राण वायु हमको परम प्रिय है वैसे ही हम एक-दूसरेके साथ प्रेमका व्यवहार करते रहें।

जिस प्रकार ईश्वर सबके हृदयमें समान रूपसे निवास करता है, वैसे ही हम दोनों एक-दूसरेके हृदयमें निवास करते रहें।

जिस प्रकार उपदेष्टा श्रोताओंको उपदेश करता है, वैसे ही हम दोनों परस्पर प्रेमका उपदेश करें।"

शाखोच्चार

(आचार्य शान्ति सूक्तके वैदिक मंत्रों तथा मंगल श्लोकोंका पाठ करें।)

का पिता—अपनी धर्मपत्नीको दाहिनी ओर बिठाकर कन्याके दोनों हाथोंमें हरिद्रा लेपन करके वर और कन्याका हाथ संपुटित कर दे। यह लोकाचार है।

का पिता—"हम लोग स्थावर जंगमके स्वामी बुद्धिको प्रसन्न करनेवाले ईश्वरका अपनी रक्षाके लिए आवाहन करते हैं। क्योंकि वे ही हमारे

धनकी पुष्टि व वृद्धि करनेवाले हैं और पुत्रादिकोंके रक्षक हैं। वे हमारे कार्योंको निर्विघ्न समाप्त करें और हमारा कल्याण करें।"

तब वर एवं कन्या पक्षवाले आचार्य सबको प्रकट करनेके लिए अपने यजमानके वंश, गोत्र, प्रवर आदिका परिचय दें। लगभग इस प्रकारके शब्द हों —

यह वर सज्जनोंके मनको तृप्त बनानेवाले अपने समाजको प्रफुल्लित करनेवाले.....गोत्रके धर्मात्मा श्री.....के प्रपौत्र हैं एवं स्वनामधन्य श्रीमान् .....के पौत्र तथा बुद्धिमान यशस्वी श्रीमान् .....के सुपुत्र हैं।

इसी प्रकार कन्या पक्षके आचार्य निम्नलिखित शब्दोंमें कन्याका परिचय दे—"यह कन्या धर्मात्मा तेजस्वी श्री.....की प्रपौत्री है एवं श्री.....की पौत्री तथा श्री.....की पुत्री है।"

कन्यादान

तदनन्तर कन्यादानकी विधि सम्पन्न हो, जिसमें सर्वप्रथम वर पूर्वाभिमुख हो। कन्या पश्चिमाभिमुख हो, दाता उत्तराभिमुख हो। संकल्पमें जल छोड़नेवाला दक्षिणाभिमुख हो।

कन्याका पिता—(हाथमें कुश, अक्षत और जल लेकर कहे) "जम्बूदीपके भारत खंडमें आर्य्यावर्तके अन्तर्गत......में विक्रम संवत्.....के शुद्ध....मासके.....पक्षकी....तिथिको....राशि स्थित...... सूर्यमें.....गोत्रका मैं......कन्यादानमें कहे गए विशेष फलोंकी प्राप्तिके लिए इस कन्यामें होनेवाली संततियों द्वारा अपनी बारह पीढ़ी नीचे और बारह पीढ़ी भविष्यके उद्धारके लिए स्वयं अपनेको पवित्र करनेके लिए एवं भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए ब्राह्मविधिसे कन्या दान सम्पन्न करता हूँ।"

(कह कर संकल्प छोड़ दे।)

कन्याका पिता—फिर कन्या और वरके पैरोंको धोकर जलको अपने ललाटपर लगाता जाए और वरसे यह कहे—

"यह सुन्दर कन्या आभूषणों एवं वस्त्रोंसे सुशोभित है। इस लक्ष्मीस्वरूपाको मैं विष्णु रूप आपको दूँगा।

"संसारकी रक्षा करनेवाले और सब प्राणियोंका हित चाहनेवाले देवतागण इस कन्या-दानके साक्षी हैं।"

तब कन्याका पिता कन्याकी हथेलीके ऊपर वरकी अंजलिसे जल छोड़ता हुआ यह कहे :—

ा पिता—यह कन्या मुझे संसार सागरसे उबारे। उसके द्वारा मेरा पुण्य बढ़े। यह जल कल्याणकारी हो।

(फिर वरकी अंजलिमें फूल छोड़ता हुआ कहे)

"हमारे मनसे पाप दूर हो। उसमें सदा पवित्रताका निवास हो।"

(फिर वरके हाथमें अक्षत छोड़कर कहे) "मेरी संततियाँ सदा सुखी रहें।"

(फिर हाथमें दुबारा जल लेता हुआ कहे) "मैं दीर्घायु प्राप्त करूँ।"

(फिर पृथ्वीपर जल गिराते हुए कहे)

"मेरे सब पाप कर्म नष्ट हों।"

-ईश्वरसे प्रार्थी हूँ कि वह सदा आपका कल्याण करे।

(तब वरके मस्तकमें कन्याका पिता चन्दन, अक्षत, पुष्प लगावे। तदनन्तर कन्या-दाता अपनी पत्नी समेत दाहिने हाथमें कन्याका दाहिना हाथ रखकर कुश, अक्षत, सुपारी, पंचरत्न आदि लेकर पुत्र द्वारा ऊपरसे अविरत जलधारा छुड़ाते हुए कन्यादानका संकल्प इस प्रकार पढ़े—)

का पिता—ओम् ओम् ओम् सर्वव्यापी महापुरुष! सर्व समर्थ भगवान्‌की आज्ञासे वर्तमान सृष्टि कार्यमें लगे हुए ब्रह्माजीके दूसरे परार्धमें आर्यावर्तके अन्तर्गत.....में....नाम संवत्सरमें.....स्थित उत्तरायण सूर्यमें.......ऋतुमें शुद्ध.....मासकी.......पक्षकी.....को.. ..गोत्रवाला......प्रवर मैं.......कन्यादानके प्रसंगमें कहे हुए सम्पूर्ण फलकी प्राप्तिके लिए तथा इस वरसे इस कन्यामें होनेवाली संततियों द्वारा अपनी बारह पीढ़ी नीचे और बारह पीढ़ी ऊपरके

पितरोंके उद्धारके लिए अपनेको पवित्र करनेके लिए श्रुति, स्मृति, पुराण आदिमें कहे गए ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंके शत-गुणित पुण्य-फलकी प्राप्तिकी कामनासे अपनी इस कन्याको जो सुवर्णादि विविध अलंकारोंसे विभूषित है, प्रजापति जिसके देवता हैं ..... गोत्र ..... प्रवर .... के प्रपौत्र .... के पौत्र .... श्रीमान .... के पुत्र श्रीमान् ..... नामक वरके लिए देवता, अग्नि, गुरु, ब्राह्मण आदिके समक्ष स्त्री-रूपमें समर्पित कर रहा हूँ। हे वरदेव! आप इसे अंगीकार करें।"

(इस प्रकार संकल्प पढ़कर कुश, अक्षत, जल, चाँदी, सोना, मूँगा, मोती, ताँबा समेत कन्याका हाथ वरके हाथोंमें पकड़ा दे और पुनः ऐसा कहे—)

कन्याका पिता—"अपनी शक्ति भर विभूषित इस कुमारी कन्याको मैं आपको समर्पित कर रहा हूँ। आप इसे स्वीकार करें।"

"मेरे वंशमें इसने जन्म लिया है। जैसा कुछ संभव था मैंने इसका पालन-पोषण किया और यह इस अवस्थाको प्राप्त हुई। पुत्र-पौत्रादिके द्वारा आपकी वंश-वृद्धिके हेतु मैं इसे समर्पित कर रहा हूँ।"

"कृपया इसे धर्म कार्योंमें और धन-सम्पत्तिके कार्योंमें एवं काम-सम्बन्धी कार्योंमें कभी वंचित न रखेंगे। ऐसी विशेष प्रार्थना कर रहा हूँ।"

(कन्यादाता द्वारा ऐसी प्रार्थना करनेपर वर प्रत्युत्तर दे)

वर—"हे महानुभाव! आपके आदेशानुसार मैं धर्मार्थकाम सम्बन्धी कार्योंमें इसे कदापि वंचित न रखूँगा।"

कन्याका पिता—"पुत्र, पौत्रादि द्वारा आपकी वंश-वृद्धिके लिए मैं इसे समर्पित कर रहा हूँ। कृपया इसे धर्म कार्योंमें, धन-सम्पत्तिके कार्योंमें, एवं काम-सम्बन्धी कार्योंमें कभी वंचित न रखेंगे।

वर—"हे महानुभाव! आपके आदेशानुसार मैं धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी कार्योंमें इसे कदापि वंचित न रखूँगा।"

(इसी प्रकार कन्याके पिता और वरकी उपर्युक्त बात दुहराई जाए।)

(इस प्रकार तीन बार वरको कन्याका पिता वचनबद्ध करा दे।)

(तदनन्तर वर दाताको आशीर्वाद दे)

—"ईश्वर करे आपका सदा कल्याण हो।"

-(तब कन्यासे कहे—)

"हे भद्रे! तुम्हारे पूज्य पितृदेव तुम्हें समर्पित कर रहे हैं और मैं तुम्हे अंगीकार कर रहा हूं। ईश्वर सबका कल्याण करें।"

(तदनन्तर वर कन्याके हाथको अंचल-ग्रन्थि-बन्धन तक न छोड़े और पुनः कामदेवकी स्तुति करे—)

-"किसने दिया है, किसको दिया है? वस्तुतः कामने ही दिया है और कामके ही लिए दिया है। काम ही दाता है और काम ही प्रतिगृहीता है। अतः हे कामदेव! यह सब केवल तुम्हारी महिमा है।

(दाता तदनन्तर आचार्य, पुरोहित एवं अन्यान्य ब्राह्मणोंके लिए भूयसी दक्षिणा आदि दान करे और सब किए गए कर्मोंको मनसे ईश्वरार्पण करे। उसका संकल्प इस प्रकार होगा—)

—"पूर्वोच्चारित तिथि, नक्षत्र, दिन आदिमें.....गोत्रोत्पन्न मैं इस कन्यादान रूप महादानकी प्रतिष्ठाके लिए अपनी मन कल्पित दक्षिणाको अनेक नाम एवं गोत्रवाले ब्राह्मणोंके लिए दे रहा हूँ।"

-पिता—"मैंने शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, आत्मासे, स्वभावसे, जो-जो कुछ कर्म किसी उद्देश्यको लेकर किया वह सब नारायणको अर्पण करता हूँ।"

(इसके अनन्तर आचार्य यजमानको तिलक, आशीर्वाद दे।)

(वर यथाशक्ति गोदान करे।)

निष्क्रमण

(इस प्रकार कन्यादानकी समाप्ति हो जानेपर वर कन्याके दाहिने हाथको अपने दाहिने हाथसे पकड़कर निम्नलिखित मंत्र पढ़ते हुए विवाह मंडपमें अपने स्थानसे उठकर अग्निकी वेदीके समीप जाए।

स्मरण रहे कि मंत्रमें कन्याका नाम लेकर सम्बोधन करना चाहिए।)

वर— हे लक्ष्मीरूपिणी ...... इति : जिस प्रकार परम तेजोमय सूर्य, अग्नि अथवा वायु अपनी शक्तिसे दूर रहनेवाले जल आदि पदार्थोंको आकृष्ट कर अथवा आत्मसात् कर दूर देश तक पहुँचा देते हैं, वैसे ही तुम्हारा भी मानसिक प्रेम देश-विदेशमें सर्वत्र जहाँ मैं विचरण करूँ, मेरे साथ रहे। मेरी यह ईश्वरसे प्रार्थना है कि वह तुम्हे सब प्रकारसे मेरे अनुकूल बनावे।"

(वर-कन्याके अग्निके समीप पहुँच जानेपर एक पुष्ट मनुष्य पवित्र जलसे भरा हुआ एक कलश अपने कन्धेपर लेकर अग्निवेदीकी दक्षिण दिशामें मौन भावसे खड़ा रहे, और तब तक खड़ा रहे जब तक अभिषेचन समाप्त न हो जाए।)

कन्याका दाता—यह आदेश दे "परस्पर एक-दूसरेको आप लोग अच्छी तरह देख लें।"

(वर और कन्या एक-दूसरेका मुखावलोकन करें। उस समय वर यह मंत्र पढ़े—)

वर—"हे भद्रे! तुम प्रिय दृष्टिवाली हो। परमात्माकी अनुकम्पासे पतिके अनुकूल रहनेकी तुम्हारी प्रवृत्ति हो।

अपने अधीन रहनेवाले पशु आदिका हितचिन्तन करनेवाली बनो।

तुममें वीर संततियाँ हों। तुम्हारा अन्त:करण स्वच्छ रहे। तुम सद्गुणोंसे प्रकाशित हो। देवताओंकी पूजामें तुम्हारी निष्ठा बढ़े। तुमसे हमारे कुटुम्बी तथा पशु आदिको सब सुख मिले।

वह जगत्का पालन करनेवाला परम पिता परमात्मा हर प्रकार से तुम्हें हमारे अनुकूल एवं प्रीतियुक्त बनावे। कामादि सुखोंसे सर्वदा प्रसन्न रहती हुई तुम्हारी पुत्रादि प्राप्तिकी कामनाएँ वह पूर्ण करे। तुम सर्वदा मेरे साथ धार्मिक कृत्योंका अनुष्ठान करती रहो। तुम्हारे अन्त:करणसे पाप-भावनाका नाश कर वह तुम्हें पवित्र करे।"

इस प्रकार मुखावलोकन हो जानेके अनन्तर वर वधूको आगे करके अग्निको दाहिने करके प्रदक्षिणा करे और अग्निसे पश्चिम दिशा की ओर आकर एक नवीन वस्त्रसे लपेटी हुई तृणोंकी राशि अथवा

चटाईपर प्रथम वधूका दाहिना चरण रखवाकर पूर्वाभिमुख बैठावे और बैठी हुई वधूकी बाईं ओर स्वयं पूर्वाभिमुख बैठे।

कुश कण्डिका

– आज अंगीकार की गई इस कुमारीके सच्चे अर्थमें पत्नीत्व धर्मकी सिद्धिके लिए मैं वैवाहिक हवन कर्म कर रहा हूँ।"

"मेरे इस मंगलमय विवाह कार्यमें कोई त्रुटि तो नहीं हो रही है? अथवा कोई उलट-पुलट तो नहीं हो रहा है? इन सब बातोंके निरीक्षण के लिए.....गोत्रोत्पन्न . .नामक विद्वान् ब्राह्मण देवको मैं ब्रह्मा बनाता हूँ।"

(ऐसा कहकर ब्रह्माको अग्निकी प्रदक्षिणा कराकर अग्निकी दाहिनी ओर पूर्वाग्र कुशासनपर उत्तराभिमुख बैठावे और ब्रह्मा जी ऐसा कहे—)

— मैं आपके यज्ञमें यथोचित कर्म करूँगा।" तदनन्तर कुश कण्डिका सम्पन्न करे, जिसका विधान इस प्रकार है:—

अग्निसे उत्तरकी ओर कुश रखकर ब्रह्माकी ओर देखते हुए प्रणीता पात्रको जलसे पूर्ण करके एवं कुशोंसे ढँककर स्थापित करे। तदनन्तर अग्निके चारों ओर कुशोंको इस प्रकार बिछावे—इक्कीस-इक्कीस अथवा तीन-तीन कुशा अग्नि कोणसे ईशान कोण तक, दक्षिण दिशामें ब्रह्माके आसनसे अग्निकी वेदी तक नैऋत्य कोणसे वायव्य कोण तक, उत्तर दिशामें अग्निकी वेदीसे प्रणीता पात्र तक। अग्निसे उत्तर पवित्री काटनेके लिए तीन कुश अलग रखे। पवित्री बनानेके लिए एक कुशमेंसे बीचवाले दो पत्र अग्र भाग समेत निकाल लेना चाहिए। जिन दो पत्रोंकी बगलमें तीसरा कोई पत्र न रह गया हो ऐसे दोनों कुशपत्र, प्रोक्षणी पात्र, घृतका कटोरा, मार्जनके लिए तीन कुश, चोटीकी तरह एक ही में ग्रंथित पाँच कुशा, बित्ते भरकी तीन पलाश आदिकी लकड़ियाँ (जिनकी मोटाई अँगूठे जितनी हो, छिलका लगा हो, चीरी हुई न हो, घुनी या सड़ी न हो) स्रुवा, गायके घृतसे युक्त एक पात्र वर की मुट्ठीसे दो सौ छप्पन मुट्ठी चावलसे भरा हुआ पात्र, इन सब वस्तुओंको

पवित्र छेदन कुशोंसे पूर्व रखे। इन सबोंसे पूर्व शमी और पलाशके पल्लोंसे मिश्रित भूँजे हुए धानका लावा, लोढ़ा सहित शिला, कन्याका सगा भाई, उसके अभावमें कोई भी भाई—जल-पूर्ण घट, आचार्यकी दक्षिणा एवं अन्य आलेपनादि द्रव्यको पूर्व-पूर्वमें स्थापित करे।

तदनन्तर पवित्र छेदनके तीन कुशोंसे काटकर एक बीत्तेकी पवित्रीको दाहिने हाथकी अनामिका अँगुलीसे धारण कर प्रणीताका जल तीन बार प्रोक्षणीमें रखे। फिर दोनों हाथोंके अनामिका और अँगूठेसे पकड़ी हुई पवित्रीसे उछाले। और प्रणीताका जल प्रोक्षणीपर छिड़के। प्रोक्षणीका जल अग्निके समीप रखी हुई सभी वस्तुओंपर छिड़के। अग्नि और प्रणीताके बीचमें प्रोक्षणीको रख दे। कटोरेमें घृत रखकर अग्निपर रखे, एवं कुशाके अग्र भागको जलाकर घृतके ऊपर घुमाकर अग्निमें छोड़ दे। स्रुवाका मुख नीचा कर तीन बार अग्निमें तपावे और सम्मार्जन कुशोंके अग्र भागसे स्रुवाके अग्र भागको, मध्यसे मध्य भागको, मूलसे मूल भागको पोछकर प्रणीताके जलसे स्रुवाको धोकर और पुनः उसे तीन बार अग्निमें तपाकर दक्षिणकी ओर रख दे।

तदनन्तर घृतका पात्र अग्निपरसे उतार कर पवित्रीसे प्रोक्षणीकी तरह ऊपरको चलाकर भली भाँति देख ले और यदि कोई वस्तु गिर गई हो तो उसे निकाल दे।

पुनः प्रोक्षणी पात्रके जलको पवित्री द्वारा तीन बार ऊपरकी ओर उछाले, फिर शिखाकी तरह बाँधे गए पाँच उपयमनके कुशोंको बाएँ हाथमें लेकर मनमें प्रजापतिका ध्यान करते हुए उठकर मौन भावमें खड़ा हो। फिर तीनों समिधाओंको (लकड़ियोंको) घी में बोरकर एक-एक कर बिना मंत्रोंका उच्चारण किए ही अग्निमें छोड़ दे। फिर बैठकर पवित्री सहित प्रोक्षणी जलसे ईशान कोणमें लेकर उत्तर दिशा पर्यन्त प्रदक्षिणाके क्रमसे अग्निके चारों ओर छोड़ दे। और प्रोक्षणीके सब जलको गिरा दे। पवित्रीको प्रणीता पात्रमें रख दे। फिर अपने दाहिने घुटनेको पृथ्वीपर टेक कर ब्रह्माके समीप से अपने समीप तक कुश द्वारा सम्बन्ध स्थापित करता हुआ स्रुवा द्वारा जलती हुई अग्निमें आहुति छोड़नेका संकल्प करे।

(प्रत्येक आहुति अग्निमें छोड़नेके पश्चात् स्रुवामें बचे हुए घृत बिन्दुओंको प्रोक्षणी पात्रमें गिराते जाना चाहिए) ।

ये आहुतियाँ १८ होंगी।

– मैं अपने विवाह कर्मके निमित्त प्रजापति आदि देवताओंको घृतकी आहुति दूंगा।" (ध्यान करे)

—" अर्यमण आदि देवताओंको मैं लाजा (लावा) की आहुति दूँगी।" (ध्यान करे)

– प्रजापति और अग्निको घृतकी आहुति मैं दूंगा।" ऐसा कहे।

हवन

" यह प्रजापतिके लिए आहुति देता हूँ। यह अब मेरी वस्तु नहीं है। यह प्रजापतिके लिए स्वाहा है। यह इन्द्रके लिए स्वाहा है। यह इन्द्रके लिए आहुति देता हूं। मेरी वस्तु यह नहीं है। यह अग्नि देवके लिए आहुति देता हूँ। यह उन्हीकी है, मेरी नहीं। यह सोमके लिए आहुति देता हूं। अपने लिए नहीं।"

(अब वर कलशकी पूजा करे।)

-" भू: पृथ्वी और उसके अधिष्ठाता अग्नि देवके लिए यह आहुति दे रहा हूँ। अपने लिए नहीं।"

" भुवः, अन्तरिक्ष और उसके अधिष्ठातृ देवता वायुके लिए यह आहुति दे रहा हूँ। अपने लिए नहीं।"

" स्वः, स्वर्ग और उसके अधिष्ठातृ देवता सूर्यके लिए यह आहुति दे रहा हूँ। अपने लिए नहीं।"

" अग्निदेव ! मेरे ऊपर क्रोध करनेवाले वरुणको शांत कीजिए। मेरे दुर्भाग्योंको दूर कीजिए। समस्त प्राणियोंकी शत्रुतासे मुझे बचाइए।"

" हे अग्नि ! आप सब कुछ जाननेवाले हैं, अपने अधिकारको आप स्वयं जानते हैं। देवताओंके हवनीय द्रव्योंको वहाँ तक पहुँचानेवाले हैं। परम प्रकाशमान् हैं। यह अग्नि एवं वरुणके लिए आहुति है। मेरी नहीं।"

अग्निदेव ! इस समय आप हमारे रक्षक रूपमें सम्मुख उपस्थित हैं। वरुणके लिए दी गई यह आहुति वहाँ तक पहुँचाइए। इस मुख-दायक हविका भक्षण कीजिए। हमें सद्बुद्धि प्रदान कीजिए। यह आहुति अग्नि वरुणके लिए दे रहा हूँ। यह अब मेरी वस्तु नहीं है।"

"अग्निदेव ! सैकड़ों, सहस्रों फैले हुए बड़े-बड़े वरुणके पाशोंसे सविता विष्णु, विश्वेदेव, वायु सभी हमारी रक्षा करें। हमारी यह आहुति वरुण, सविता, विष्णु, विश्वेदेव, वायु एवं स्वर्गके लिए है।"

"हे वरुणदेव ! मेरे शिरपर तथा नीचेके अंगोमें रखे गए अपने पाशोंको दूर कीजिए।"

"हे आदित्य ! इन तीनों पाशोंके हट जानेपर सर्वथा शुद्ध रहते हुए अदिति, परमात्मा मोक्ष या पूर्णता पानेके सच्चे अधिकारी होंगे। हमारी यह आहुति आदित्य और वरुणके लिए है। ये पाँच आहुतियाँ पापोंके प्रायश्चित्तके लिए है।"

(इसके अनन्तर देशरक्षाके निमित्त आहुति करे। स्मरण रहे कि इन आगे दी जानेवाली आहुतियोंमें आहुतिसे बचे हुए घृतको प्रोक्षणी पात्रमें न छोड़े। बीच-बीचमें वर दाहिने हाथसे प्रणीताका जल स्पर्श करता रहे।)

वर—"जो सत्यको सहन करनेवाला, असत्यमें अप्रसन्न रहनेवाला, अग्नि नामक गंधर्व देवता है, जिसका सत्य अविनाशी तेज है, वह हम लोगोंकी रक्षा करे। उस सत्य एवं तेजोमय अग्निके लिए वषट्कार करके यह आहुति प्रदान करता हूँ।"

"सत्यको सहनेवाला, सत्य रूप स्थानवाला, अग्नि ही गंधर्व है, उसकी औषधियाँ (अन्न आदि हवनीय द्रव्य) ही आनन्द देनेवाली अप्सराएँ है। उनके लिए यह आहुति समर्पित कर रहा हूँ।"

"दिन और रात्रिको संयुक्त करनेवाला, सबको सान्त्वना प्रदान करनेवाला, समस्त पृथ्वीके रक्षक सूर्य है—वे हम सबकी रक्षा करें। ऐसे परम तेजोमय सूर्यके लिए हम यह आहुति प्रदान करते हैं।"

दिन और रात्रिका निर्माता, सर्वत्र शान्ति देनेवाला, सूर्य ही गन्धर्व है, उसकी सर्वत्र व्याप्त रहनेवाली मरीचि (किरणें) ही अप्सराएँ हैं, उनके लिए यह समर्पित कर रहा हूँ।"

"सुन्दर सुखदायी सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशमान, पृथ्वीका रक्षक यह चन्द्रमा है। वह हमारी रक्षा करे। उसीके लिए यह समर्पण कर रहा हूँ।"

"परम सुखदायी, सूर्यसे प्रकाशकी प्राप्ति कर चमकनेवाला चन्द्रमा ही गन्धर्व है, उसकी परम कान्तिमयी तारिकाएँ ही अप्सरा हैं, उनके लिए ये आहुतियाँ निवेदित हैं।"

"शीघ्र बहनेवाले, सर्वत्र व्याप्त एवं पृथ्वीकी रक्षा करनेवाले वायुदेव हैं, वे हम सबकी रक्षा करें। उन्हींके लिए यह आहुति निवेदित कर रहा हूँ।"

"शीघ्र प्रवाहित होनेवाला, सबमें चेतना शक्ति प्रदान करनेवाला वायु ही गन्धर्व रूप है। बल, तेजको देनेवाली और अन्नको उत्पन्न करनेवाली जलराशि ही अप्सराएँ हैं। उनके लिए यह आहुति दे रहा हूँ।"

"यज्ञ सबकी रक्षा करनेवाला, स्वर्ग प्रदाता एवं पृथ्वीका पालन-कर्त्ता है, वह हम सबकी रक्षा करता है। उसीके लिए यह आहुति समर्पित कर रहा हूँ।"

"सर्वरक्षक, शुभ गतिदाता यज्ञ ही गंधर्व है। यज्ञ और उसके करनेवाले दोनोंको प्रशंसा दिलानेवाली दक्षिणा ही उसकी अप्सराएँ हैं। उनके लिए यह आहुति दे रहा हूँ।"

"मन, प्रजाकी रक्षा करनेवाला, सभी कार्योंमें लगानेवाला एवं वाणी आदिको धारण करनेवाला है, वह सबकी रक्षा करे। उसके लिए यह आहुति निवेदित कर रहा हूँ।"

"प्रजाकी रक्षा करनेवाला, सब कामोंमें लगानेवाला मन ही गन्धर्व है, सभी अभीष्टोंको पूर्ण करनेवाली ऋक् और सामकी ऋचाएँ ही इस मनकी अप्सराएँ हैं। उनके लिए यह आहुति समर्पित कर रहा हूँ।"

(इस प्रकार राष्ट्रभृत हवनके अनन्तर, निम्नलिखित तेरह मंत्रोंसे जया हवन करे।)

वर—"चित्तके लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ, यह चित्तके लिए ही है, मेरी नहीं।"

"हृदयकी चेतनाके लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ। यह केवल चेतनाके लिए है, मेरी वस्तु नहीं है।"

"कर्मेन्द्रियोंकी प्रेरक शक्तिके लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ, यह केवल प्रेरक शक्तिके लिए है, मेरे लिए नहीं।"

"विज्ञानके लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ, यह केवल विज्ञानके लिए आहुति है, मेरे लिए नहीं।"

"विज्ञानकी शक्तिके लिए आहुति प्रदान करता हूँ, यह विज्ञान की शक्तिके लिए है, मेरे लिए नहीं।"

"मनके लिए आहुति प्रदान करता हूँ, यह केवल मनके लिए है, मेरे लिए नहीं।"

"मनकी शक्तियोंके लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ, यह केवल मनकी शक्तियोंके लिए है, मेरे लिए नहीं।"

"अमावस्याको होनेवाले पितृयज्ञके लिए आहुति देता हूँ, यह केवल उसी पितृयज्ञके लिए है, मेरे लिए नहीं।"

"पूर्णिमाको सम्पन्न होनेवाले यज्ञादि पुण्य कार्योंके लिए आहुति दे रहा हूँ, यह केवल उसी पुण्य कार्यके लिए है, मेरे लिए नहीं।"

"महत्त्वके लिए आहुति देता हूँ, यह केवल महत्त्वके लिए है, मेरे लिए नहीं।"

"सामगानके लिए आहुति देता हूँ, यह केवल सामगानके लिए है, मेरे लिए नहीं।"

"प्रजापतिने यज्ञों द्वारा मानव-रक्षाके लिए वृष्टि करनेवाले इन्द्रको जयप्रद मंत्र दिए। उन्हीं मंत्रोंके प्रभावसे इन्द्र शत्रु-सेनाको जीतनेमें समर्थ होते हैं। विजय प्राप्त करनेपर उनको सभी प्रणाम करते है, यज्ञमें उनका विशेष सम्मान होता है, यज्ञके द्रव्य ग्रहण करने

याम्य होता हैं, उनके लिए यह आहुति प्रदान करता हूं, यह उन्हीं प्रजापति के लिए है, मेरा इसमें कुछ नहीं है।"

(तदनन्तर अभ्यातान होम करना चाहिए।)

वर—"अग्निदेव समस्त प्राणियोंके रक्षक हैं, वे मेरी रक्षा करे और इस विवाह मंडपमें बैठी हुई इस कन्याकी भी देवहूतिके समान रक्षा करें। ऐसे अग्निदेवके लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ। यह समस्त चराचर जीवोंके अधीश्वर अग्निके लिए है, मेरे लिए नहीं।"

"बड़े-से-बड़े—सबका अधिपति वह इन्द्र है, वह ब्रह्म कर्म आदिमें सर्वत्र मेरी रक्षा करे। उनके लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ, यह मेरे लिए नहीं है।"

"पृथ्वीका अधिपति यमराज इन ब्रह्म-कार्योंमें मेरी रक्षा करे, उसके लिए स्वाहा है, यह उसीके लिए आहुति है, मेरे लिए नहीं।"

"अन्तरिक्षका स्वामी वायुदेव इन ब्रह्म-कार्योंमें मेरी रक्षा करे, उसीके लिए यह आहुति प्रदान कर रहा हूँ, यह मेरी नहीं है।"

"द्युलोकका अधीश्वर वह सूर्यदेव इन ब्रह्मादि पुण्य कार्योंमें मेरी रक्षा करे, उसीके लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ, यह मेरी नहीं है।"

"नक्षत्रोंका स्वामी चन्द्रमा इन ब्रह्मादि कार्योंमें मेरी रक्षा करे, उसीके लिए यह आहुति अग्निमें छोड़ रहा हूँ, यह मेरी नहीं है।"

"वेदोंका स्वामी अथवा ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ वह बृहस्पति इन ब्रह्म-सम्बन्धी यज्ञ कार्योंमें मेरी रक्षा करे। यह आहुति उन्हीके लिए है, यह मेरी नहीं है।"

"सद् व्यवहारोंका स्वामी मित्र है, वह हमारी रक्षा करें। मेरी प्रार्थना है कि इस विवाह यज्ञमें अवस्थित कन्याकी भी देवहूतिके समान वे रक्षा करे। यह आहुति मित्रके लिए मैं समर्पित कर रहा हूँ।"

"जलके स्वामी वरुण है, वह हमारी रक्षा करे। मेरी प्रार्थना है कि इस विवाह यज्ञमें बैठी हुई कन्याकी देवहूतिके समान रक्षा करें। यह वरुणके लिए आहुति प्रदान करता हूँ।"

नदियोंका अधीश्वर समुद्र है वह हमारी रक्षा करे। वह इस विवाह यज्ञमें अवस्थित कन्याकी भी देवहूतिके समान रक्षा करें। यह आहुति समुद्रके लिए है।"

"साम्राज्यका स्वामी अन्न है वह हमारी रक्षा करे। और इस विवाह मंडपमें अवस्थित इस कुमारीकी भी रक्षा देवहूतिके समान करे। यह आहुति उसीके लिए समर्पित कर रहा हूँ।"

"औषधियोंका स्वामी चन्द्रमा है, वह हमारी रक्षा करे। मेरी प्रार्थना है कि इस विवाह मंडपमें बैठी हुई इस कन्याकी भी देवहूतिके समान रक्षा करे। यह आहुति सोमके लिए दे रहा हूँ।"

"फल-पुष्पावलियोंके स्वामी सूर्य देव है, वह हमारी रक्षा करे। और इस विवाह-मंडपमें बैठी हुई कन्याकी भी देवहूतिके समान रक्षा करे। यह आहुति सूर्यके उद्देश्यसे दे रहा हूँ, मेरी वस्तु यह नहीं है।"

"पशुओंके स्वामी रुद्रदेव है, वह हमारी रक्षा करे, मेरी प्रार्थना है कि इस विवाह मंडपमें बैठी हुई कन्याकी देवहूतिके समान रक्षा करे। यह आहुति मैं रुद्रदेवके लिए समर्पित करता हूँ। यह मेरी अपनी नहीं है।"

(तदनन्तर प्रणीताके जलसे वर हाथ धो ले और आचार्य वर और कन्याके ऊपर प्रणीताका जल छिड़के।)

वर—"रूप सौन्दर्यादिका स्वामी विश्वकर्मा है, वह मेरी रक्षा करे और प्रार्थना है कि यहाँ अवस्थित कन्याकी देवहूतिके समान वह रक्षा करे। यह आहुति मैं विश्वकर्माके उद्देश्यसे अग्निमें समर्पित कर रहा हूँ। यह मेरी नहीं है।"

"पर्वतादिके स्वामी विष्णुदेव है, वे मेरी रक्षा करें और इस विवाह यज्ञमें बैठी हुई कन्याकी देवहूतिके समान रक्षा करें। यह आहुति पर्वतोंके अधीश्वर विष्णुके लिए समर्पित कर रहा हूँ। यह मेरी नहीं है।"

"अनेक गुणोंके स्वामी वायुदेव है, वे मेरी रक्षा करें। मेरी प्रार्थना है, इस विवाह यज्ञमें बैठी हुई कन्याकी भी वे देवहूतिके समान रक्षा करें। यह आहुति मैं उन्हींको समर्पित कर रहा हूँ। यह मेरी नहीं है।"

पितरगण एवं पितामहगण अथवा कुटुम्बके जितने छोटे-बड़े लोग हैं, वे सब पूज्य हैं, वे हमारी रक्षा करें और विवाह बन्धनमें अवस्थित इस कन्याकी भी रक्षा करें, यह आहुति उन्हीं पितरादिके लिए समर्पित करता हूँ। यह मेरी नहीं है।"

(तदनन्तर वर प्रणीताके जलमें हाथ धो ले और अग्न्यादि पंचक अभ्यातान हवन करनेका विनियोग हाथमें जल लेकर करे।)

-"देवताओंके प्रमुख, अकाल मृत्यु पाशसे बचानेवाले अग्निदेव हमारे समीप आवें। इस कन्याकी सन्तानोंको जीवित होनेका वरदान दें। राजा वरुण भी उनको इस कार्यमें सहायक हैं। अर्थात् अग्निमें जलकर, पानीमें डूबकर अथवा विष आदि खानेपर होनेवाली अकाल मृत्युओंसे ये लोग इस कन्याकी सन्तानोंकी रक्षा करें। यह आहुति अग्निके लिए समर्पित है, यह मेरी नहीं है।"

-"गृहस्थाश्रमके समस्त कार्योंको सम्पन्न करनेवाले अग्निदेव इस कन्याकी रक्षा करें। इसकी संततियोंको दीर्घायु करें, यह कन्या वन्ध्या दोषसे रहित हो, पुत्र-पौत्रादिके आनन्दका पूर्ण अनुभव करे। यह आहुति उन्हीं अग्निदेवके लिए मैं समर्पित कर रहा हूँ। मेरी वस्तु यह नहीं है।"

"हे यज्ञकर्त्ताओंके रक्षक अग्निदेव! हमारे विरुद्ध कार्योंको हमारे अनुकूल बनाइए। सभी कार्योंको पूर्ण कीजिए। पृथ्वीसे लेकर स्वर्ग तक जो बड़ाई है वह मुझे भी दीजिए। इस पृथ्वीपर उत्तम सम्पत्ति प्राप्त हो। स्वर्गीय सुखोंकी प्राप्ति हो। यह आहुति अग्निके लिए समर्पित कर रहा हूँ। इसमें मेरा कुछ नहीं है।"

"हे वैवस्वत! सुखदायी मार्गका प्रदर्शन करते हुए आप हमारे समीप आइए। ज्ञानके प्रकाशसे पूर्ण, वृद्धता एवं रोगादिसे रहित लम्बी आयु हमें प्रदान कीजिए। अकाल मृत्युका भय हमसे दूर कीजिए। मोक्ष एवम् आनन्दकी प्राप्ति हो। अग्नि-भय हमें न हो। इन उद्देश्योंसे यह आहुति वैवस्वतको अर्पित कर रहा हूँ। इसमें हमारा कोई अधिकार नहीं है।"

(इन उपर्युक्त चार आहुतियोंके दे चुकनेपर वर इस पाँचवीं आहुतिके मन्त्रको अपने मनमें पढ़े और वधूको अग्निकी ओटमें कर दे।

जिनसे कन्या वरको न देख सके। क्योंकि यह पाँचवीं आहुति मृत्युके लिए है। ऐसा विश्वास है कि इस आहुतिको कन्याके देखनेसे आयुकी हानि होती है।)

उपर्युक्त चारों आहुतियोंके पश्चात् आचार्य प्रणीताके जलको वर-वधू दोनोंके ऊपर छिड़के।

(मध्यमें वस्त्रका पर्दा कर देनेपर वर मनमें इस मंत्रका पाठ कर आहुति करे।)

वर—"हे मृत्युदेव! तुम हमारी ओरसे हटकर अन्य मार्गसे जाओ, तुम्हारा मार्ग अन्यान्य देव-मार्गसे विपरीत है। संसारकी समस्त वस्तुओंके देखनेवाले स्वयं समस्त शब्दोंको सुननेवाले तुमसे हम प्रार्थना करते हैं कि तुम हमारी संततियोंको कभी मत मारो। यह आहुति हम मृत्युके लिए समर्पित कर रहे हैं, इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।"

(इस पाँचवीं आहुतिके हो जानेपर मध्यवर्ती पर्देको हटाकर आचार्य प्रणीताके जलसे वर-वधू दोनोंके ऊपर अभिषेचन करे।)

लाजा-हवन

(तदनन्तर लाजा-हवन प्रारम्भ किया जाए। इसमें कन्या अंजलि बाँधकर पूर्वाभिमुख अग्निके सम्मुख खड़ी हो जाए। वर भी पीछे खड़ा होकर पूर्वाभिमुख कन्याकी अंजलिके नीचे अपनी अंजलि रखे।)

कन्या अपने भाईके हाथसे दिए गए शमी और पलाशके पत्र से मिश्रित तथा घृतसे मिश्रित अंजलि भरे लाजा (धानका लावा) की अग्निमें आहुति करे। पर निम्नलिखित तीन मंत्रोंमेंसे एक-एकके समाप्त होनेपर एक-एक तृतीयांश अग्निमें छोड़ना चाहिए। एक ही मंत्रके उच्चारणपर पूरी अंजलि नहीं छोड़नी चाहिए।

कन्या—"कन्याओंने पहले अग्निस्वरूप अर्यमा देवका यज्ञ वरकी प्राप्तिके लिए किया था, वे अर्यमा देव हमारे पतिको मृत्युके बंधनसे मुक्त करें। मेरा पतिदेवसे कभी वियोग न हो। यह लावाकी आहुति मैं अग्निके उद्देश्यसे अर्पित कर रही हूँ। इसमें हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।"

"हे अग्निदेव! मैं आपके लिए लावेकी आहुति देकर अपने प्रिय पतिकी दीर्घायुके लिए प्रार्थना करती हूँ। हमारे मातृकुल एवं

पितृकुलके लोग धन-धान्यादिसे परिपूर्ण हों। यह आहुति आपके लिए समर्पित कर रही हूँ। इसमें हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।"

(इस मन्त्रके उच्चारणके बाद अंजलिके आधे भागको अग्निमें छोड़ देना चाहिए।) शेष अंशकी आहुति निम्नलिखित मंत्रसे करें—

—"हे प्रिय पतिदेव! तुम्हारी आयुन्नति एवं वृद्धिके लिए मैं इन लावोंकी अग्निमें आहुति कर रही हूँ। इन अग्नि देवकी कृपासे हमारा आपका पारस्परिक अनुराग दिनानुदिन बढ़ता रहे। इस कार्यमें वे हमारे सहायक हों। यह आहुति मैं उन्हीं अग्निदेवके लिए समर्पित कर रही हूँ। इसमें हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।"

(तत्पश्चात् वर कन्याका अँगूठे समेत दाहिना हाथ अपने हाथमें पकड़कर यह मंत्र पढ़े :—)

-"हे सुन्दरी! मैं तुम्हारे ऐश्वर्य एवं सौभाग्यकी वृद्धिके लिए तुम्हारे हाथको पकड़ रहा हूँ। मेरे साथ तुम वृद्धावस्था तक सुखपूर्वक बनी रहो। तुम्हें दीर्घायु की प्राप्ति हो।

अर्यमा, सविता आदि देवताओंने गृहस्थाश्रमके कर्तव्योंके पालनके लिए तुम्हे मुझे दिया है।"

-"हे सुन्दरी! यदि मैं विष्णुस्वरूप हूँ, तो तुम लक्ष्मीस्वरूपा हो। मै तीनों देवोंका यदि प्रतिरूप हूँ, तो तुम तीनों महादेवियोंकी प्रतिमूर्ति हो। मैं सामवेद हूँ, तो तुम ऋक् हो। मैं आकाश हूँ, तो तुम पृथ्वी हो। ऐसे गुण एवं स्वभाववाले हम दोनों अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करें। एक साथ रहकर ऐश्वर्य प्राप्त करें। योग्य सतनियाँ उत्पन्न करें। तुम्हें अनेक वीर पुत्रोंकी प्राप्ति हो। वे पुत्र लम्बी आयुवाले हों और हम दोनों परस्पर प्रेम करनेवाले, शोभा-सम्पन्न, प्रसन्न चित्त रहनेवाले पुत्र-पौत्रादि युक्त सौ वर्षों तक सुन्दर दृश्य देखते रहें। अच्छी बातें सौ वर्षों तक सुनते रहें और रोग-रहित जीवन धारण करें।" (तदनन्तर वर कन्याका दाहिना पैर अपने दाहिने हाथसे पकड़कर अग्निसे उत्तरमें रखी गई पाषाण-शिलापर रखता हुआ निम्नलिखित मंत्रका उच्चारण करे।)

वर—"हे देवि! इस पाषाण-शिलापर तुम अपने चरण रखो, पाषाणकी तरह अपने धर्मपर दृढ़ रहो। दृढ़तापूर्वक कलह उत्पन्न करनेवाले अशुभ चिन्तकोंके समूहको दबा लो।"

(तत्पश्चात् वर, स्त्रियोंकी प्रशंसामें निम्नलिखित मंत्रोंका पाठ करे—)

वर—"हे ऐश्वर्य युक्त अनेक धन-धान्यादि समृद्धियोंसे सम्पन्न सरस्वती देवी! इस समस्त यज्ञ-कार्योंमें भली प्रकारसे रक्षा करो। तुम्हे सम्पूर्ण विश्वको उत्पन्न करनेवाली कहा जाता है। तुम्हीं सबकी आद्या शक्ति हो। यह समस्त चराचरात्मक जगत् तुम्हीमें अवस्थित है। पहले भी तुम्हींसे इसकी उत्पत्ति हुई थी। तुम ही सबकी रक्षा करती हो। आजसे इस गाथाका गान करता हूँ। तुम्हारे समान जगत्में जो सौभाग्य-वती स्त्रियाँ हैं उन सबकी मैं प्रशंसा करता हूँ।"

(तदनन्तर वर वधूको आगे करके अग्निकी प्रदक्षिणा करे। वर निम्नलिखित मंत्रोंको बोलता रहे:—)

(स्मरण रहे कि इस परिक्रमामें केवल अग्निकी परिक्रमा हो, पास बैठे हुए आचार्य या ब्रह्मा की नहीं)

वर—"हे अग्निदेव! तुम्हारी पूजाके लिए मैंने इस कन्याका पाणिग्रहण किया है। यह सूर्यके समान तेजस्विनी हो। सन्तान उत्पन्न करनेवाली इस कन्याको लक्ष्मी-रूपमें आपने मुझे दिया है।"

(इस प्रकार प्रथम प्रदक्षिणा पूर्ण हो जानेपर कन्या अपने पूर्व स्थानपर आकर स्थित हो जाएँ। वधू फिर वरकी अंजलिके ऊपर रखी गई अपनी अंजलिमें अपने भाई द्वारा दिए गए लावोंको भर ले और पूर्वोक्त तीनों मंत्रोंका उच्चारण करती हुई तीन बारमें उसकी आहुति करे। और वर पूर्व रीतिसे अँगूठे समेत वधूके दाहिने हाथको पकड़कर पत्थरकी शिलापर चढ़ावे और पूर्व कही गई गाथा (यशोगान) का पाठ करे और फिर अग्निकी परिक्रमा कर अपने निर्दिष्ट स्थानपर आकर खड़ा हो। इसी प्रकार पुनः तीसरी बार वधू लाजा-हवन करे और वर पाषाण शिलाका आरोहण, गाथागान तथा प्रदक्षिणा सम्पन्न करे)

तीसरा परिक्रमाके अनन्तर कन्याका भ्राता अवशेष लावेको कन्याकी अञ्जलिमें छोड़ दे और कन्या सब लावको एक ही बार इस निम्नलिखित मंत्रका उच्चारण कर आहुति दे :—

—" ऐश्वर्य आदिको देनेवाले, सौभाग्य देवके लिए मैं यह आहुति दे रही हूँ। इसमें मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।"

(तदनन्तर आचार्य दोनोंके वस्त्रोंमें गाँठ लगा दे और वे चौथी बार चुपचाप परिक्रमा करें। इस बार वर आगे और कन्या पीछे हो। परिक्रमाके बाद दोनों आ-आकर अपने-अपने आसनपर समासीन हो जाएँ। इस बार अँगूठे समेत हाथका ग्रहण आदि न होना चाहिए।)

-(मनमें प्रजापतिका चिन्तन करता हुआ घृतकी आहुति दे।) "प्रजापतिके लिए आहुति देता हूँ, यह प्रजापतिके लिए है इसमें मेरा कोई अधिकार नहीं है।" आहुतिसे शेष घृत प्रोक्षणीमें छोड़ दे और वर कन्याके आसन बदल दिए जाएँ।

सप्तपदी

(तदनन्तर पतिकी आज्ञा प्राप्त कर कन्या सात बार पैरोंको उठाकर उत्तर दिशाकी ओर चलती हुई प्रत्येक पदमें आगे लिखे वाक्योंको कहे। वर उसके वाक्यका प्रत्युत्तर भी उसी क्रममें दे। इसीको सप्तपदी कहा जाता है। सप्तपदीके बिना कन्या कुमारी ही मानी जाती है। क्योंकि उसके पूर्व कन्या दाहिनी ओर रहती है।)

प्रथम पगपर कन्या यह याचना करे :—

—" धनधान्य मिष्ठान्न आदि भोज्य पदार्थ वस्त्र-आभूषणादि जो कुछ भी आपकी गृहस्थीमें हो, मैं उसकी स्वामिनी बनूँ।"

-" भगवान् तुम्हें धनधान्यादिका अधिकारी बनावे।"

—" आपके लाए हुए घृत दुग्धादि पदार्थोंसे मैं हृष्ट-पुष्ट एवं बलवती बनकर आपके घरकी श्रीवृद्धि करती रहूँ।"

" भगवान्की कृपासे तुम्हें दूसरे पदमें बलकी प्राप्ति हो।"

—" हे प्रियतम ! आपके धर्मपूर्वक उपार्जित किए गए धनका हम दोनों उपभोग करेंगे। उस आपके उपार्जित द्रव्यकी देखरेख और रक्षा मैं ही करूँगी।"

वर—"भगवान्‌की कृपासे तुम्हें इस तीसरे पदक्षेपमें उक्त धन-धान्यके उपभोग एवं रक्षणका अधिकार प्राप्त हो।"

कन्या—"हे प्रियतम! एकान्तमें मधुर-मधुर बातोंमें तथा अन्य गृहस्थीके सुख-साधनोंसे मैं प्रसन्न रहूँगी?। (ऐसा चौथे पगमें कहे।)

वर—"भगवान्‌की कृपासे तुम्हें चौथे पगमें सब प्रकारके सुखोंकी प्राप्तिका अधिकार प्राप्त हो।"

कन्या—"हे प्रियतम! परिवारके पालन-पोषणके लिए गौ, घोड़ा आदि पशु हमारे घरमें सर्वदा पाले जाते रहें।" (ऐसा पाँचवें पदमें निवेदन करे)

वर—"भगवान्‌की दयासे तुम्हें पाँचवें पदमें उक्त पशुओंके पालनका सौभाग्य प्राप्त हो।"

कन्या—"हे पतिदेव! आपके साथ गृहस्थ धर्मकी सारी अभिलाषाएँ मैं पूर्ण करूँ। मेरी सब कामनाएँ आपमें केन्द्रित होंगी।

वर—"भगवान्‌की कृपासे तुम्हारी छठवें पादक्षेपमें सभी काम पूर्ण हों। और मैं वैवाहिक पवित्रता रखूँगा।"

कन्या—"हे स्वामिन्! मेरा अपमान या तिरस्कार कभी न कर मुझसे स्थिर प्रेम करिएगा। मेरे बिना कोई भी यज्ञ, बावली, कूप या बाग-बगीचे आदि न लगाइएगा। किसी प्रकारका दान, श्राद्ध आदि भी मेरे बिना न कीजिएगा। साराश यह कि छोटे-बड़े सभी कामोंमें मुझे साथ रखिएगा।"

वर—"हे प्रियतमे! तुम सात पदोंवाली हो, तुम्हारा अनुराग मुझमें बढ़े। भगवान् तुम्हें पातिव्रत धर्ममें प्रवृत्त करे।"

(किसी-किसी आचार्यके मतसे सप्तपदीके बाद कन्या बाएँ भागमें बैठती है और किसी-किसीके मतमें सप्त पदीके पहले ही बैठती है।)

तदनन्तर जल-कलश लेकर खड़े हुए पुरुषके कन्धेपरसे जल, कुश, दूब या आमके पत्ते लेकर वर पत्नीके मस्तकपर छिड़कता है। उसका मंत्र यह है :—

वर—"जो सर्वत्र व्याप्त रहनेवाला जल सुख और अभ्युदय का देनेवाला है, शान्ति और विशेष आनन्द प्रदान करता है। हे वधू! वह तुम्हारे लिए औषधिके समान आरोग्य एवं सुखका देनेवाला हो।"

हे सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले जल! आप समस्त कार्योंमें सुख देनेवाले हैं। हममें उन समस्त सुखोंका अनुभव करनेकी शक्ति दीजिए। दिव्य और मनोरम ब्रह्मके दर्शन करनेका अधिकारी हमें बनाइए।"

"हे जलदेव! आपका जो रस सबसे अधिक सुख, शान्ति एवं आनन्द देनेवाला है उसे हमें यहाँ इस प्रकार पिलाइए जैसे माता प्रेम-पूर्वक अपने बच्चेको दूध पिलाती है।"

"हे सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले जल देव! तुम्हारे ऐसे दिव्य गुण सम्पन्न रसको, जिससे तुम निखिल ब्रह्माण्डको तृप्त करते हो—और स्वयं गौरवान्वित हो, हम पर्याप्त रूपमें प्राप्त करते रहें। हे जलदेव! हमें उस रसका आस्वादन करनेवाला तथा संततियोंवाला बनाइए।"

इस प्रकार अभिषेचन हो जानेपर बड़ी देरसे खड़े हुए उस जल-कलशवाले पुरुषको शक्ति अनुसार दक्षिणा दे। जब दिनमें विवाह हो रहा हो तो वर वधूको ऐसी आज्ञा दे—

वर "सूर्य भगवान्‌का दर्शन कर लो।"

(वधू निम्नलिखित मंत्र पढती हुई सूर्यका दर्शन करे :—)

—वे सर्वत्र प्रसिद्ध, देवताओं द्वारा प्रतिष्ठित, सबके हितकारी और निर्मल प्रकाशमान तथा समस्त संसारके नेत्र स्वरूप भगवान् सूर्य नारायण पूर्व दिशामें उदित होकर विराजमान हैं। उनकी कृपासे हम सौ वर्षो तक सुन्दर-सुन्दर दृश्य देखते रहे। हमारी जीवन-शक्ति सौ वर्षों तक बनी रहे।

हम लोकोपकारी मीठी बातें सौ वर्षों तक सुनते रहें।

ऐसी ही मधुर एवं उपकारी बातें सौ वर्षों तक स्वयं करते रहें।

हम सौ वर्षों तक कभी दीन न बनें।

हे भगवन्! मेरी ये आकाक्षाएँ सौ वर्ष से भी अधिक काल तक पूरी होती रहें।"

(तदनन्तर वर पत्नीके दाहिने कन्धेपर अपना दाहिना हाथ रखकर हृदयका स्पर्श करे और कहे—)

"हे पतिव्रते! तुम्हें मैं हृदयसे धारण करता हूँ।

तुम्हारा चित्त सर्वदा हमारे चित्तके अनुकूल बना रहे।

हमारी आज्ञाको तुम अनन्य भावसे पूर्ण करती रहो
भगवान् प्रजापति तुम्हें मेरी सेवामें प्रवृत्त रखें।"

(तदनन्तर वर पत्नीके ललाटमें सिन्दूर लगाकर इस मंत्रसे सुमंगली करे—))

वर—"हे विवाह यज्ञमें समुपस्थित देव वृन्द! एवं इस सभाके सदस्य गण! आप लोगोंके आशीर्वादसे यह वधू सब प्रकारसे मंगलयुक्त हो। आप सब इसे स्नेहकी दृष्टिसे देखें। इसे सौभाग्यका आशीर्वाद दीजिए। इसकी मंगल कामना करते रहिए। इसके विपरीत किसी प्रकारकी भावना न रखिए।"

(तदनन्तर सौभाग्यवती स्त्रियाँ आकर सिन्दूर बटोरती हैं और आशीर्वाद देती हैं।)

(पश्चात् कन्या पुनः वरके दाहिनी ओर आकर बैठती है।)

(वर पुनः कुश द्वारा ब्रह्मासे सम्बन्ध स्थापित करे।)

वर—"अभीष्टदायी अग्निदेवके लिए यह आहुति देता हूँ।"

(यह कहकर वर आहुतिको अग्निमें छोड़े और आहुतिसे शेष घृतको प्रोक्षणी पात्रमें छोड़े। प्रोक्षणी पात्रके घृतको चाट ले) और आचमन करके पवित्रीसे मार्जन करे और ब्रह्माके लिए पूर्ण पात्र उपर्युक्त परिमाण का दे।

(उसका संकल्प इस प्रकार होगा—)

वर—"पूर्वोच्चारित विशेषणोंसे युक्त आजके अवसरपर होनेवाले मेरे इस मंगल विवाह कार्यमें समस्त त्रुटियोंकी देख-भाल करनेवाले ब्रह्माजीने जो कार्य किया, उसकी प्रतिष्ठाके लिए दक्षिणा समेत यह पूर्ण पात्र जिसके प्रजापति देवता हैं......गोत्रोत्पन्न.....शर्माको समर्पित कर रहा हूँ।"

ब्रह्मा—"सर्वदा कल्याण हो।"

(ऐसा आशीर्वाद दें और बँधे हुए कुशोंकी गाँठको खोल दें)

(तत्पश्चात् वर अपने दोनों हाथोंसे प्रणीताका जल अपने मस्तकपर छिड़कता हुआ यह कहे—)

वर—"ये जल और औषधियाँ मित्रोंके समान हमारी रक्षा करें।"

(तदनन्तर वर पृथक्तः जिस क्रमसे अग्निके चारों ओर कुशा बिछाया गया था उसी क्रमसे उठाकर घृतसे सिंचित कर अग्निमें छोड़ता हुआ यह मन्त्र पढ़े :—)

- हे यज्ञमें आगत देव वृन्द ! यज्ञको समाप्त हुआ जान कर संतोष धारण कर अपने-अपने मार्गको प्रस्थान करें। हे प्रजापति ! इस किए गए यज्ञको मैं आपको समर्पित करता हूँ। आप इसे वायुदेवको समर्पित करें।"

(तदनन्तर आचार्यको यथाशक्ति गौ-दक्षिणादिसे सन्तुष्ट करे)

संकल्पमें ब्रह्माकी तरह गोत्रादिका उच्चारण कर ले।

फिर भूयसी दक्षिणाका संकल्प पूर्वोक्त रीतिसे करे और सब ब्राह्मणोंको अपनी इच्छानुसार दे।

इस अवसरपर परम्परागत ब्राह्मणेतर जातिवाले दीन, दुखी, दरिद्रोंको भी दक्षिणा से प्रसन्न करे।)

(तदनन्तर चतुर्थी कर्म सम्पन्न करे।)

विवाह रात्रिके समय हो रहा हो तो ध्रुवका दर्शन वधूको वरकी आज्ञा प्राप्त करके करना चाहिए। इसका मंत्र इस प्रकार है :—

-" हे ध्रुव महात्मन् ! मैं आपका दर्शन कर रहा हूँ। आपका यह स्थान कभी चलायमान होनेवाला नहीं है। मैं भी इसी प्रकार स्थिर चित्त और दृढ़ शरीरवाला बनूं। मेरी यह पत्नी पुत्रवती होकर मेरे साथ बहुत वर्षों तक जीवित रहे।"

(विवाह संस्कारमें शास्त्रीय विधिके अतिरिक्त लौकिक रीतियाँ भी बहुत प्रचलित हैं। उन सबका यथावसर समादर करना चाहिए।)

तदनन्तर स्रुवासे भस्म लेकर अनामिका अंगुलीसे ललाट, गरदन, दाहिना कन्धा एवं सभी अंगोंमें लगावे। उसका मंत्र इस प्रकार है :—

-" बाल्य, यौवन और वृद्धता—ये तीनों अवस्थाएँ सुख, शांति और स्वास्थ्यसे समन्वित जमदग्नि, कश्यप एवं अन्यान्य देवताओंकी जैसी हैं, हमारी भी ये अवस्थाएँ उन्हींकी तरह सुख, शांति और उत्तम स्वास्थ्यसे संयुक्त रहें।"

* * *

मातृभाषाकी महत्ता

※

मातृभाषा क्या है ? यह सजीव शब्दोंका कोष है, यह सुहावने चिह्नोंका भाण्डार है, यह राष्ट्रके जीवनकी साक्षात् मूर्ति है, यह राष्ट्रीय शक्तिकी वह प्रतिमा है जो राष्ट्रके विचारों और उसके हृदयस्थित भावोंको सुरक्षित रखकर उन्हें दूसरोंपर प्रकट करती है। हमारे इतिहास, विचार और प्राचीन साहित्य भण्डारकी यह कुंजी है। इससे भी अधिक यह उस प्रभावशाली साहित्यका दिग्दर्शन कराती है, जो मानवीय विचार और प्रबल वासनाओंसे परिपूर्ण है, जिसे भुलाना मानो आत्मघात करना है। हमारा भावी साहित्यिक और मानसिक गौरव इसी मातृभाषाके भविष्यपर निर्भर है।

हमारी सन्तानके लिए मस्तिष्ककी स्फूर्तिको बढ़ानेका उपाय मातृभाषाके अध्ययनसे बढ़कर दूसरा नहीं है। यह भाषा बड़ी विस्तृत और सुन्दर है। ऐसी शुद्ध, आदर्श और रसीली भाषामें आत्मबलकी जैसी शिक्षा हो सकती है, वैसी अन्य किसी भी भाषासे होनी असम्भव है। भाषा हृदयको उत्तेजित करती है, मनकी भावनाको दृढ़ बनाती है, आत्माको शुद्ध रखती है। इसके मननसे विचार ऊँचे होते हैं, मन और आत्मामें शक्तिका संचार होता है, यह हमें अपने राष्ट्रीय गौरवकी ओर आकर्षित करती है, आत्म-गौरव, आत्म-

शक्ति और भक्तिभावके अंकुरोंको उत्पन्न करती है। गिरे हुए राष्ट्रके हृदयमें यह राष्ट्रीयताके भावोंको उपजाती है और सांसारिक क्षेत्रमें उसके लिए उन्नतिका पथ परिष्कृत करती है। अतएव राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय भावोंके प्रचारका प्रभाव प्रतिदिन पारिवारिक और सामाजिक जीवनपर पड़ना राष्ट्रीय जीवनके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

राष्ट्रीयताके भाव रखनेवालोंमें कदाचित् ही कोई ऐसे हों जिन्हें मातृ-भाषापर प्रगाढ़ ममता न हो, जिनपर उसका बलिष्ठ और उत्साहवर्द्धक प्रभाव न पड़ा हो, एवं जो उसके मनोहर मोहनमन्त्रके वशमें न आ गए हों। मातृभाषा उनके स्वभावका एक अंग, उनके हृदयका प्रतिबिम्ब और उनके शरीरका एक वह भाग है जो शारीरिक सौन्दर्यका प्रधान कारण है।

मातृभाषाके गर्भमें राष्ट्रीय बुद्धिको पूर्ण और उच्च-प्रकृति बनानेकी शक्ति होती है। उसके द्वारा राष्ट्रकी मानसिक शक्तिका विकास होता है, उसमें राष्ट्रीय ज्ञानके क्षितिज और भूमण्डलके नापनेकी शक्ति होती है। मातृभाषाके प्रचारसे सदाचारको किसी विचित्र तथा विलक्षण मानसिक प्रभाव-के कारण अत्यन्त लाभ होता है। उसने अपने मानसिक साम्राज्यमें अगाध शब्द-भाण्डार उत्पन्न किया है, शक्तिकी भरपूर मात्रा उसमें भरी हुई है, सौन्दर्य तथा उच्च विचारोंकी कमी उसमें नहीं है। उसके द्वारा हम जो कुछ सीख सकते हैं, वह संसारकी अन्य किसी भाषाके द्वारा नहीं। नवयुवकोंके मस्तिष्कमें विदेशी भाषा वह भाव कदापि नहीं उत्पन्न कर सकती, जो उनकी मातृभाषा करती है।

विदेशी भाषाके द्वारा मानसिक शक्तियोंके प्रादुर्भावका विचार सर्वथा असम्भव है। किसी भाषाका साहित्य कितना ही सर्वांगपूर्ण क्यों न हो, परन्तु वह मातृभाषाके साहित्यसे अधिक आवश्यक और आदरणीय नहीं हो सकता। सर्वसाधारणकी उन्नति मातृभाषा ही के सरल साहित्यके द्वारा हो सकती है, वे उसीसे लाभ उठा सकते हैं, जो उनकी मातृभाषामें है। उदाहरणके लिए कल्पना कीजिए कि संसारकी भाषाओंमें आज अँग्रेजी भाषाका आसन सर्वोच्च है, उसका साहित्य सर्वांगपूर्ण है, परन्तु भारतके निवासी—यद्यपि भारतमें उसका उच्च लोगोंमें प्रचार है—उससे यथेष्ट लाभ उठानेमें असमर्थ हैं।

उन अँग्रेजीके उच्च शिक्षितोंकी संख्या बहुत थोड़ी है, जो अँग्रेजीके प्रकाण्ड साहित्यसे लाभ उठा सकते हैं, सर्वसाधारण उससे तभी लाभ उठा सकते हैं जब वे ही ग्रन्थ सर्वसाधारणकी प्रचलित भाषामें तैयार हों। यदि वे अँग्रेजीका ज्ञान सम्पादन भी करें, तो भी उनपर मातृभाषाके शब्दोंका जो प्रभाव पड़ेगा, उसका दसवाँ अंश भी अँग्रेजी शब्दोंका पड़ सकेगा, यह अनुमानमें भी नहीं आ सकता। मनुष्यका मनोविकास अथवा मानसिक वृत्तियोंका प्रसार मातृ-भाषा ही के द्वारा होना सम्भव है, अन्यथा नहीं। यह शक्ति केवल मातृ-भाषा ही में है कि वह भारतीय हृदयमें छिपे हुए भावों, विचारों और उद्वेगों तथा रहस्योंको ठीक-ठीक रूप देकर शब्दोंमें ढाले। वह हृदय कौन है जिसमें मातृभाषा बनी है, और वह मातृभाषा कौन है जिससे हृदयके भाव निकालकर साहित्य-रूपमें जगत्के सन्मुख रक्खे जाएँगे ? इसका उत्तर यही है कि भारतीय हृदय और भारतीय भाषा।

भाषा और साहित्यकी जागृति राष्ट्रीय उन्नतिके मार्गकी पहली मंजिल है। यह जागृति मानसिक उन्नतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। राष्ट्रीय उन्नतिके मार्गमें यह अन्य समस्त प्रकारकी त्रुटियों और बाधाओंको दूर करती है। इसका पहला प्रभाव स्वभावतः आत्मोन्नति तथा मानसिक उन्नतिकी ओर ही बढ़ता है। किसी राष्ट्रकी सांसारिक तथा सामाजिक व्यवस्था बहुत अंशोंमें राष्ट्रकी मानसिक तथा आत्मिक अवस्था ही पर निर्भर रहा करती है। सामा-जिक सुधारके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि समाज अपनी भाषाका ज्ञान सम्पादन करे, जिसके द्वारा उसे अपने राष्ट्रीय इतिहास और परम्पराका ज्ञान हो, उसमें राष्ट्रीय विचार और राष्ट्रीय गौरवका उदय हो और लोग अपने धर्मपालनपर कटिबद्ध हों। बस, तभी उनकी आत्मा पवित्र देशभक्ति, आत्मगौरव और आत्म-सम्मानके भावोंसे भरकर उच्च बनेगी।

प्रत्येक देशमें राष्ट्रीय उन्नतिसे पहले मातृभाषाके प्रचारका आन्दोलन परमावश्यक है। सांसारिक उन्नति मातृभाषाके पुनरुद्धारकी सहगामिनी है। अतएव सर्व-प्रथम हमें अपनी मातृभाषाका अस्तित्व स्थापित करनेकी प्रबल चेष्टा करनी परमावश्यक है। मातृभाषाके सहयोगसे जब राष्ट्रके मानसिक जगत्में शुद्धता एवम् पवित्रता आ जाती है, जब राष्ट्रीय भाव और कल्पनाएँ देशमें फैलती हैं तब राष्ट्रीयतामें विश्वास, राष्ट्रीय सदाचारमें दृढ़ता

और कम करनकी प्रबल चेष्टा---आदि प्रशंसनीय गुणोंका प्रादुर्भाव अवश्य ही होता है, और यही गुण सांसारिक उन्नतिके प्रबल साधन हैं।

राष्ट्रीयताका निर्माण वर्तमानका भूतकालसे एक शृंखलामें बद्ध होने तथा अर्वाचीन कालका प्राचीन कालसे अटूट सम्बन्ध होनेसे होता है। यह सम्बन्ध हमें प्राचीन पुरुषोंकी सभ्यताके आधुनिक समयमें वर्तमान होनेसे पाया जाता है। विचार, भाव और भाषाका अटूट सम्बन्ध जिसके द्वारा हम अपने पूर्वजोंके साथ संलग्न हैं, और वर्तमानकाल पूर्वकालसे बद्ध है, उसीकी समतासे राष्ट्रीयताका निर्माण हो सकता है, इसीलिए प्रत्येक राष्ट्रको अपने पूर्वजोंकी भाषाकी जीवनमें परम आवश्यकता है। हमारे प्राचीन कालका सच्चा स्वरूप वह विचारशैली, भाव साम्राज्य और मातृभाषाका बन्धन है जो एक राष्ट्रके जीवनकी शताब्दियोंको एक दूसरीसे और एक पीढ़ीको दूसरे पीढ़ीसे जोड़ता है। भाषा और राष्ट्रीयताको मिटाकर संसारमें हम अपने कल्याणकी आशा कदापि नहीं कर सकते। हमें सर्वोपरि अपनी मातृभाषाके प्रचारपर ध्यान देना उचित है। सर्व-साधारणमें मातृभाषाके प्रेमकी उत्पत्ति ही सर्वोत्तम आत्मशक्ति और विचार स्वातन्त्र्य है। और वह राष्ट्र नहीं जिसे मातृभाषाके प्रति अनुराग न हो, और वह मनुष्य नहीं जिसके हृदय-क्षेत्रमें मातृभाषाके प्रेमका अंकुर न जमा हो। जब तक हिन्दी है तब तक हमारा हृदय और मर्म भी हिन्दी है। यदि हम अपनी मातृभाषाको खो बैठे तो निश्चय है कि उस दिन हमारी राष्ट्रीयताका भी लोप हो जाएगा।

राष्ट्रीय जागृति मातृभाषा-प्रचारके बिना नहीं हो सकती। मातृभाषाके द्वारा कला-कौशल और साहित्यको पुनर्जीवित करना देशके शुभचिन्तकोंका प्रधान कर्तव्य है। यदि हमें संसारमें जीवित रहना है, यदि हमें अपनी पूर्व कीर्तियोंकी लाज रखनी है तो परमावश्यक है कि सबसे प्रथम हम अपनी मातृभाषाकी उन्नतिमें संलग्न हों, उसे अपना सर्वस्व जानें, उसे संसारमें सर्वप्रिय वस्तु मानें और उसके उद्धारके लिए कटिबद्ध रहें। कुछ दिन हुए, जब यहाँके कुछ इने-गिने निवासियोंको अंग्रेजीका नया शौक चर्राया था तो वे मातृभाषाके द्वारा बातचीत करनेमें अपनी मानहानि समझते थे। साधारण बातचीत करते और सामान्य चिट्ठी-पत्री लिखते समय भी वे मातृभाषाका बहिष्कार करने लगे थे। जिस मातृभाषाने उन्हें पाला-पोसा था, जिसने

उन्हें खाने पीने सोने रहने और बैठनेके शब्द सिखाए थे जिसने उन्हें बाल्य-कालमें माँसे रोटी माँगनेके वाक्य बताए थे जिसने उन्हें वे बातें बताईं जिनपर उनका आरम्भिक जीवन निर्भर था, उसकी अवहेलना करनेमें उन्हें तनिक भी लाज न आई ! बात आज भी कुछ-कुछ ऐसी ही है, अब भी ऐसे लोगोंकी कमी हमारे समुदायमें नहीं हैं, तथापि अब वह दशा नहीं रही। मातृभाषाकी जागृति हो चली है, हिन्दमें हिन्दीकी हवा बहने लगी है। अँग्रेजीका उच्च शिक्षित समुदाय भी मातृभाषाके महत्वको पहिचानने और मातृभाषा हिन्दीमें लिखने, पढ़ने और बोलनेकी अनिवार्य आवश्यकताको समझ गया है। ईश्वर करे, यह प्रवृत्ति दिन दूनी बढ़े और हमारे अभ्युदयमें सहायक हो।

अँग्रेजी भाषाका ज्ञान-सम्पादन हमारी सांसारिक उन्नतिके लिए आवश्यक है, परन्तु उसे मातृभाषाका स्थान देना और अपने नित्यके साधारण व्यवहार और बोलचालमें उसका प्रयोग करना सर्वथा असंगत और हमारे हितका विरोधी है। साधारण बोल-चाल, चाल-ढाल, रहन-सहन, भोजन-वस्त्र, रंग-ढंग, हँसी-मजाक, खेल-कूद, नाच-गान और साज-सामान आदिमें देशी सादगीको तिलाजलि देकर अपव्ययकी ओर ले जानेवाली विदेशी रीतियोंको स्थान देना किसी भी देशके लिए अहितकर है। लोगोंको विदेशी अनुकरणमें बड़ा सुभीता जान पड़ता है, परन्तु यह मार्ग उन्हें उनके अभीष्ट पदपर कदापि नहीं पहुँचा सकता। हमारी प्राचीन सभ्यताका सौन्दर्य तथा सादापन यदि आधुनिक सभ्यताकी स्वार्थप्रियता तथा बाह्य सुखोंकी लालसामें परिणत हुआ, तो उसका ह्रास अवश्यम्भावी है। विचारवानोंका कथन है कि दूसरोंकी भाषा और भावोंके अनुकरणसे अपनी नैतिक अवस्था निर्बल हो जाती है, आत्मगौरव और आत्मसम्मानका भाव घटता जाता है, राष्ट्रीय बल, स्वाधीन विचारकी शक्ति तथा दायित्व-भारका भाव भी दिन-दिन क्षीण होता जाता है। जिन देशोंमें मातृभाषाका पूर्णतया प्रचार है, जिनमें शिक्षाके समस्त कार्य मातृभाषा हीके द्वारा होते हैं, जहाँके निवासी मातृभाषा ही के द्वारा उच्च-से-उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं, जिन्हें समस्त विभागोंमें मातृभाषाके व्यवहारकी स्वतन्त्रता प्राप्त है, वहाँके जन-समुदायका चरित्र सर्वदा उच्च और पवित्र रहता है। वे अधिक पुण्यात्मा और दयालु होते हैं, दूसरोंके प्रति उनका व्यवहार सरल और प्रेमपूर्ण रहता है। मातृभाषामें स्वभावतः आत्म-निदर्शन तथा गूढ़

विषयोंपर अधिक विचार होनेके कारण वह मनुष्योंके धार्मिक भावोंको दृढ़ और बलिष्ठ करती है, एवम् उनके जीवनको पवित्र और धार्मिक बनाती है।

केवल बाह्य और राजनैतिक स्वतन्त्रता ही से एक सच्चे राष्ट्रका प्रादुर्भाव नहीं होता, केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता कभी-कभी राष्ट्रीयताका प्रमाण नहीं हुआ करती। राष्ट्रीयताका अथवा राष्ट्रीय-जीवनका सच्चा और वास्तविक प्रमाण राष्ट्रीय-जीवनकी उन मानसिक, सामाजिक और सदाचार तथा व्यवहार-सम्बन्धी सभ्यताओंसे मिलता है, जिन्हें राष्ट्र ने अपने पूर्वजोंसे बपौतीकी भाँति पाया है और जिन्हें वह यदि उन्नत न कर सके, तो कम-से-कम बिना कलंकित किए हुए आनेवाली पीढ़ियों के लिए छोड़ जाए। यही एक वास्तविक प्रमाण है जो भिन्न-भिन्न जातियोंके वैभव और गरिमामें अन्तरको स्थिर रखकर संसारमें उस राष्ट्रके महत्वका परिचय देता है। जिसने राष्ट्रीय-जीवनके सर्वस्वरूपी बीजमन्त्र मातृभाषाको भुला दिया, उसके सुरक्षित रखनेका विचार परित्याग कर दिया, जिसने इस तत्वरूपी वस्तुको नष्ट होने दिया, जिसने मातृभाषाका तिरस्कार कर अपने मानसिक और ऐतिहासिक ज्ञानको भुला दिया, उसने अपने जातीय गौरवको नष्ट-भ्रष्ट किया और संसारसे मानों अपना अस्तित्व ही खो दिया। मानसिक स्वतन्त्रता और स्वाधीन विचारकी आवश्यकता बाह्य स्वतन्त्रतासे कहीं अधिक आवश्यक है। अपने प्राचीन इतिहासको अपना कर, अपनी प्यारी मातृभाषाका प्रचार कर, अपने जातीय चाल-ढाल, व्यवहार और सदाचारको जीवित रखना राष्ट्रीय अस्तित्वके लिए अनिवार्य है।

मातृभाषाको तिरस्कृत करना, अपने प्राचीन इतिहासको भूल जाना, परम्पराका ज्ञान खो देना—मानों अपने बुजुर्गोंकी कमाईको मिट्टीमें मिला देना और अपनेको नपुंसक बना देना है। यदि मातृभाषाका ज्ञान नहीं रहेगा, तो पुरानी मान-मर्यादाके जाननेका अवसर भी हमें नहीं प्राप्त होगा। इस प्रकार भविष्यमें हमारी उन्नतिका क्षेत्र संकुचित हो जाएगा।

* * *

वाटिका-गृह-ग्राम-योजना

✳

आज देशमें ग्रामोंके पुनरुत्थानके लिए अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की गई हैं; किन्तु मेरी कल्पनाके अनुसार सुन्दर रचना और व्यवस्थाकी ओर उतना ध्यान नहीं दिया जा रहा है, जितना देना चाहिए। कहीं-कहीं कुछ सामूहिक प्रयत्न ग्रामोंके बारेमें उठाए गए हैं, परन्तु साधारणतः देश भरके ग्रामोंकी दशा सुधारनेके लिए व्यावहारिक चिंतन और कार्य उचित गम्भीरता और लगनसे, स्वतन्त्रता प्राप्त होनेके पीछे भी उठाया नहीं गया है। हमारे ग्राम आज भी पहलेकी भाँति गंदे, छोटे स्थानमें बसे हुए और बेकारी तथा मूढ़ताके ग्रासमें फँसे हुए हैं। आवश्यकता यह है कि वे विचारक और कार्य-कर्ता जो देशकी स्थितिको सुधारना चाहते हैं, ग्रामों और छोटे नगरोंमें सौन्दर्य, स्वास्थ्य और सुख फैलानेकी ओर तुरन्त ध्यान दें।

ग्राम-जीवनका स्तर ऊँचा करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम बस्तियोंको स्वस्थ और फैली हुई तथा घरोंको खुला हुआ, एक-दूसरेसे अलग और इस प्रकारका बनाएँ, जिनमें जन और पशु ठीक रीतिसे रह सकें और जिनमें न केवल साधारण कामोंके लिए भूमि हो, वरन् इतनी भूमि हो, जिनमें एक सुन्दर वाटिका बन सके। मेरा सुझाव है कि प्रत्येक घरके साथ आधा एकड़ भूमि

होना चाहिए घर छोटा हो या बड़ा, कच्चा हो अथवा पक्का, खुली भूमि कई दृष्टियोंसे न केवल लाभदायक अपितु आवश्यक भी है। इस प्रकार बच्चोंको खेलनेके लिए भूमि मिलेगी और पुरुषों तथा स्त्रियोंको साधारण कामके बाद अपने घरमें भी कुछ खाद्य—शाक, फल आदि—के उगानेमें लाभ-मिश्रित मन बहलावका मार्ग मिलेगा। पशुओं और मनुष्योंके मल-मूत्रको खादमें परिवर्तित करने और इस प्रकार उनकी उपयोगिताको बढ़ाकर भूमिको समृद्ध करनेका अवसर मिलेगा और सब ही तरहके कामोंके लिए चौमुखी सुविधा होगी।

आज जो बहुत घने बसे हुए गाँव हैं, वहाँ इस प्रकारकी योजना तब ही चलेगी, जब नई भूमिमें चारों ओरसे उसी प्रकारकी तोड़-फोड़ की जाएगी जिस प्रकार कि कुछ नगरोंमें सुधारक-न्यासों द्वारा की गई है। परन्तु सब ही जिलोंमें कुछ ऐसे नए ग्राम तो बिना कठिनाईके बनाए जा सकते हैं, जिनमें किसी निश्चित योजनाके अनुसार तीस या चालीस फुट चौड़ी एक, दो या अधिक सड़के हों और सड़कोंके दोनों तरफ आध-आध एकड़के भूमिखंड धनी तथा दीन कुटुम्बोंको बिना किसी जाति-पाँतिके विचारसे दिए जाएँ। हरिजनों और पिछड़ी जातियोंके परिवारोंको भी इसी प्रकारकी भूमि दी जाए। जिन लोगोंको कुछ धनकी सुविधा है, वे अपने पाससे धन लगाकर घर बनवाएँ, जो धन-हीन हैं, उन्हें थोड़े धनकी सुविधा दी जानी चाहिए और सामूहिक परिश्रम द्वारा उनके घरोंके बनानेका कार्यक्रम हो।

जो खेतिहर हैं और खेती द्वारा जिनकी जीविका है, उनकी खेतीकी भूमि अलग होगी। लोहार, बढ़ई, कुम्भार, बुनकर तथा छोटे उद्योगोंमें लगे हुए लोगोंको खुली भूमिसे अपने उद्योगोंको विकसित करनेमें सुविधा होगी तथा शाक, फल, फूल अपने घरोंके चारों ओर लगानेमें उनका चित्त प्रसन्न होगा और साथ ही घरकी वाटिकाएँ ग्रामको सौन्दर्य प्रदान करेंगी।

हमारे किसी ग्राममें कभी आग लग जाती है, तब किस प्रकार वह चारों ओर फैलकर शीघ्रतासे गाँवको घेर लेती है और पशु तथा सामग्रीकी हानि करती है, इसका कुछ अनुभव गाँववालोंको कभी-कभी हो जाता है। मेरी योजनाको यदि क्रियात्मक रूप दिया जाए, तो ग्राममें आग लगनेकी सम्भावना ही नहीं है।

किसी भी दृष्टिसे विचार किया जाए, तो इस प्रकारके वाटिका-गृह-ग्राम न केवल सुन्दर होंगे बल्कि जीवनके पहलुओंमे लाभदायक सिद्ध होंगे। ऐसे ग्रामोंमे जलकी योजना अवश्य ही करनी होगी। ग्रामकी रक्षाके लिए ग्रामवासियोंको स्वयं अपनेमेंसे एक सजग स्वयंसेवक मंडली बनानी होगी, यह काम भी ग्राम-जीवनके स्तरको ऊँचा उठानेवाला होगा।

बेकारी दूर करनेके लिए ग्राम-आत्मनिर्भरताका सिद्धान्त, जिस पर प्रातःस्मरणीय गांधीजीने बल दिया था, अपनाना होगा। उसमें खादी तथा ग्रामोद्योगका मुख्य स्थान होगा, परन्तु वाटिका-गृह-ग्राम-योजना सब ही के कामोंमे सहायक होगी।

इस सम्बन्धमे लोग यह प्रश्न उठा सकते हैं कि कभी व्यावहारिक दृष्टिसे यह सम्भव है कि प्रत्येक परिवारको रहनेका घर बनानेके लिए आधा एकड़ भूमि दी जा सके। मेरा कहना है कि देश भरमे सब नगर और ग्रामोंको मिलाकर लगभग १४ करोड़ परिवार होंगे। यदि इस कुल सख्याके लिए भी आधा-आधा एकड़ भूमि दी जाए तो अधिक-से-अधिक लगभग पाँच करोड़ एकड़ भूमिकी आवश्यकता होगी। हमारे देशकी लगभग ६०—७० करोड़ एकड़ भूमिमेसे इतनी भूमि वाटिका-गृह-ग्राम-योजनाको चलानेके लिए देना पर्याप्त और व्यावहारिक है। स्थानीय आवश्यकताओंका अवश्य समन्वय करना होगा और किसीके पास यदि ज्यादा भूमि है, तो समझौतेसे उससे लेकर उपभोगमें लाना पड़ेगा। इस रीतिसे घरोंके साथ जो भूमि लगी रहेगी, उसकी उपजाऊ शक्ति साधारणसे बहुत अधिक बढ़ जाएगी और वह हरियाली और सौन्दर्यकी छटा दिखाती हुई समृद्धिकी अग्रगामिनी होगी।

* * *

आधुनिक हिन्दीके दो निर्माता

⁕

[राजर्षि टण्डनजीने अपने विद्यार्थी तथा वकालतके जीवन-कालमें ही पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय तथा पंडित बालकृष्ण भट्टकी प्रेरणासे 'अभ्युदय' तथा 'हिन्दी प्रदीप' में अनेक निबन्ध, आलोचनाएँ तथा कविताएँ लिखी थीं जो आज उपलब्ध नहीं हैं। थोड़ी-बहुत जो उपलब्ध भी हैं वे जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें हैं। उन्हें संजोनेकी ओर न तो स्वयं राजर्षिका ध्यान रहा और नहीं उनके अनुयायियोंका। यही कारण है कि आज अन्वेषण करनेपर भी उनकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय तथा पंडित बालकृष्ण भट्ट तथा तत्कालीन अन्य हिन्दी निर्माताओंकी जीवनियाँ भी उन्होंने लिखी थीं, किन्तु वे प्राप्त नहीं हो सकीं। कठिनाईसे दो जीवनियाँ प्राप्त हुई हैं, जो नीचे दी जा रही हैं। इन जीवनियोंकी भाषा-शैलीसे स्वयं प्रगट होता है कि राजर्षिके हृदयमें प्रारम्भसे ही हिन्दी भाषा और साहित्यके प्रति कितना प्रबल अनुराग था। —सं.]

१. राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द'

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' का जन्म संवत १८८० में माघ सुदी २ को काशीमें हुआ। आपके पिताका नाम बाबू गोपीचंद था। मुसलमान शासन-कालमें आपके पूर्वज दिल्लीमें जौहरीका काम करते थे। नादिरशाहका जब दिल्लीमें आक्रमण हुआ, तो वे भागकर बंगाल प्रान्तके मुर्शिदाबाद जिलेमें जाकर बस गए। कई वर्ष निवास करनेपर जब बंगालपर नवाब कासिम अलीखाँने आक्रमण किया, तो आपके पितामह राय डालचंद काशीमें आकर बस गए। यहींपर राजा शिवप्रसादका जन्म हुआ।

पिता अरबी-फारसीके विद्वान थे। माता भी पढ़ी-लिखी थीं, इससे पाँच वर्षकी आयुसे ही इनकी शिक्षा प्रारम्भ कर दी गई। पहले घरपर ही हिन्दी और उर्दूकी शिक्षा दी गई। थोड़ी-बहुत संस्कृतकी भी शिक्षा दी जाने लगी। तेरह-चौदह वर्षकी आयुमें यह काशीके बीबी हरियाके स्कूलमें पढ़नेके लिए भर्ती हुए। लगभग उन्नीस वर्ष की अवस्थामें संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फारसी, अँग्रेजी और बंगला भाषामें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। शिक्षा समाप्त करनेके बाद वे भरतपुर राज्यमें नौकर हो गए। उस समय राज्यकी शासन-व्यवस्थामें बड़ा कुप्रबन्ध था। महाराजा भरतपुर राज्यके कर्मचारियोंके आधीन होकर परतन्त्रसे हो गए थे। राजा शिवप्रसादजीने राजाका कार्यभार बड़ी सावधानी और कुशलतासे सम्भाला। वहाँके कर्मचारियोंने कुव्यवस्था उत्पन्न कर रखी थी, उसे दूर करके महाराजाको स्वतन्त्र कर दिया। महाराज भरतपुरने आपकी कार्य-कुशलतासे प्रसन्न होकर आपको अपना निजी सलाहकार नियुक्त किया।

सन् १८४२ में राजा साहब भरतपुरसे नौकरी छोड़कर काशी चले आए और सन् १८४५ ई. में अँग्रेजी सरकारकी नौकरी करने लगे। उस समय अँग्रेज पंजाबपर अपना आधिपत्य जमानेमें लगे थे। अँग्रेज और सिक्ख-युद्धका श्रीगणेश हो चुका था। आपने अँग्रेजोंकी बड़ी सहायता की। सिक्ख सेनाकी अनेक गोपनीय बातें आपने अँग्रेज अफसरोंको बताईं। अँग्रेज सरकारके वे विश्वासपात्र बन गए। अन्तमें अँग्रेजोंकी विजय हुई। अँग्रेज सरकारने महाराजा रणजीतसिंहके पुत्र महाराज दलीपसिंहको विलायत भेजनेका प्रबन्ध किया।

राजा शिवप्रसाद अकेले ही महाराज दलीपसिंहको बम्बई लेकर पहुँचे और उन्हें जहाजपर सवार कराकर लाहौर वापस लौट गए।

राजा शिवप्रसाद अँग्रेज-परस्त व्यक्ति थे। यद्यपि काशीमें उनकी बड़ी निन्दा होती थी कि वह देशद्रोही हैं, किन्तु इसकी उन्हें तनिक भी परवाह नहीं थी। वे कुछ समय तक गवर्नर जनरलके साथ शिमला में रहे। शिमलासे पुनः काशी आ गए और कमिश्नरके मीरमुंशीका काम करने लगे। वे विद्या-प्रेमी तो थे ही। शिक्षाकी उन्नति तथा इसके विकासमें भी वे हाथ बटाने लगे। उनकी इच्छा थी कि अँग्रेजीका प्रचार हो। इसके परिणाम स्वरूप वे कुछ ही समयमें स्कूलोंके इन्स्पेक्टर नियुक्त हो गए। इस पदपर राजा साहबको शिक्षा-विभागमें काम करनेका पूर्ण अवसर मिल गया। आपने स्कूलोंमें पढानेके लिए कई छोटी-छोटी पुस्तकोंकी रचना की। छोटे बच्चोंके लिए हिन्दीमें कुछ पुस्तकोंकी रचना की। उस समय शिक्षा-विभागमें उर्दू और फारसीका बोलबाला था। उर्दू तथा फारसीके पक्षपाती यह चाहते थे कि स्कूलोंमें यही भाषा पढाई जाए और कचहरियोंमें भी फारसी लिपिमें सारा कारबार हो। अँग्रेज सरकार भी यही चाहती थी, किन्तु राजा शिवप्रसादने हिन्दीके पक्षका समर्थन किया और पुस्तकोंके अभावको दूर करनेके लिए आपने साहित्य, व्याकरण, भूगोल और इतिहास आदि विषयोंपर कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं और देवनागरी लिपिमें छपवाई गई और स्कूलोंमें बालकोंको पढाई जाने लगीं। अँग्रेजोंको राजा साहबका यह कार्य पसन्द आया। अँग्रेज शासक दो रंगी नीतिसे शासन-कार्य चला रहे थे। वे उर्दू और फारसी भाषा और लिपिका प्रचार तो चाहते ही थे, किन्तु साथ ही हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपिको भी थोड़ा-बहुत प्रोत्साहन देते रहते थे।

सन् १८७२ ई. में अँग्रेज सरकारने प्रसन्न होकर राजा शिवप्रसादको सी. एस. आई. और 'सितारे हिन्द' की उपाधि प्रदान की। सन् १८८७ ई. में आपको 'राजा' की कौटुम्बिक उपाधि मिली। अन्तमें आप नौकरीसे अवकाश ग्रहण करके काशीमें विश्राम करने लगे। २३ मई सन् १८९५ में ७२ वर्षकी आयुमें आपका देहान्त हुआ।

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' हृदयसे हिन्दीके पक्षपाती और देवनागरी लिपिके समर्थक थे, किन्तु उस समय इनका पक्ष प्रबल नहीं था। अँग्रेज

सरकारकी नीति उर्दू तथा फारसी लिपिके प्रसारकी ओर थी। राजा साहब सरकार-परस्त तो थे ही। ऐसी स्थितिमें उन्होंने मध्य मार्गको ग्रहण करना ही उचित समझा। वे उस भाषाके समर्थक बन गए जो उर्दू मिश्रित है और देवनागरी तथा फारसी लिपिमें सरलतासे लिखी जा सके। अपनी इस नीतिके कारण ही राजा साहब उस समय हिन्दीकी रक्षा करनेमें समर्थ हुए। इसका प्रमाण उनकी रची हुई पुस्तकोंसे मिलता है। 'गुटका मनोरंजना', 'राजा भोजका सपना' तथा 'रानी भवानी' आदि लेखोंकी भाषासे यह स्पष्ट प्रगट होता है कि वे हृदयसे शुद्ध हिन्दीके पक्षपाती थे, किन्तु उस समयकी परिस्थितिको देखते हुए, वे चाहते थे कि राज्य-कार्यमें जो भाषा व्यवहारमें लाई जाए, वह हिन्दी, उर्दू मिश्रित हो। राजा साहबने अपनी भाषा सम्बन्धी नीतिको स्पष्ट करनेके लिए कई लेख भी लिखे जिससे जन-साधारण तथा पठित समाजमें भाषा सम्बन्धी चेतना उत्पन्न हुई। राजा साहबकी इस नीतिसे भाषा सम्बन्धी जो भी क्षति हुई हो, किन्तु राज्य-कार्योंमें व्यवहारके लिए हिन्दीका क्षेत्र उन्मुक्त हो गया।

सच पूछा जाए तो उस समय न तो हिन्दीमें पुस्तकें ही थी और न हिन्दीके प्रति कोई उत्साह ही। हिन्दीका वह प्रारम्भिक युग था। अँग्रेजोंने मुसलमान बादशाहोंसे शासनका भार अपने हाथोंमें लिया था। तथा राज्य-कार्योंमें फारसी मिश्रित उर्दू भाषा तथा फारसी लिपिका प्रचार था। शासनके कर्मचारी प्राय. फारसी तथा अरबीकी अच्छी जानकारी रखते थे। सरकारी दफ्तरोंमें फारसी लिपिका बोलबाला था। ऐसी स्थितिमें राजा साहबका हिन्दी-तथा देवनागरीका पक्ष लेना ही एक साहसका कार्य था। वे स्वयं स्वतन्त्र नहीं थे। एक तो सरकारी कर्मचारी, दूसरे अँग्रेज सरकारके हिमायती, इससे अधिक वे कर ही क्या सकते थे? उन्हें सरकारको भी प्रसन्न रखना था, साथ ही हिन्दीकी भी रक्षा करनी थी।

राजा साहबकी भाषा सम्बन्धी नीतिसे उस समय काशीमें बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। जो लोग संस्कृत तथा शुद्ध हिन्दीके पक्षपाती थे, वे राजा साहबकी नीतिसे असन्तुष्ट हो गए। उन्होंने भाषा सम्बन्धी एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। सरकारके पास भी जनताकी ओरसे प्रतिनिधि मंडल भेजा गया और क्षोभ प्रगट किया गया कि सरकारको हस्तक्षेप करना चाहिए, जिससे

शुद्ध हिन्दीका स्वरूप विकृत न हो। किन्तु राजा शिवप्रसाद अपने सिद्धान्तपर अटल रहे। उन्होंने स्पष्ट रूपसे यह प्रगट कर दिया कि साहित्यकी भाषा शुद्ध हिन्दी हो तो उचित ही है, किन्तु बोलचाल तथा व्यावहारिक भाषा उर्दू-मिश्रित हिन्दी ही हो सकती है, जो सबके लिए सुलभ है। सरकारी दफ्तरोंमें देवनागरी लिपि तथा हिन्दीका प्रवेश होना चाहिए। इसे दृष्टिमें रखकर उन्होंने फारसी लिपिका विरोध नहीं किया। हिन्दी तथा उर्दूका विवाद राजा साहबके ही समयसे प्रारम्भ हुआ। राजा साहबने जो कुछ भी किया हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि वे हिन्दीके प्रारम्भिक कालके एक शक्तिशाली और साहसी निर्माता थे। वे अपनी नीतिके आधारपर ही फारसी-मिश्रित उर्दू भाषा तथा फारसी लिपिके समकक्ष हिन्दी तथा देवनागरी लिपिको स्थापनामें समर्थ हुए। उर्दूके हिमायतियों तथा अंग्रेज शासक इन दोनों शक्तियोंका चतुराईसे सामना करते हुए, उन्होंने हिन्दी तथा देवनागरी लिपिको शासन-कामोंमे व्यवहारके लिए स्थान दिलाया।

राजा साहबने अपने जीवनमे लगभग ३५ पुस्तकोंकी रचना की। उन पुस्तकोंमें 'इतिहास तिमिरनाशक' और 'भाषाका इतिहास' नामक पुस्तकोंमे हिन्दीकी दो विभिन्न शैलियोंका स्वरूप दिखाई देता है। 'भाषाके इतिहास' में, उन्होंने अपनी भाषा सम्बन्धी नीतिका सुन्दर प्रतिपादन किया है। आपका कहना था कि हिन्दीको विशुद्ध संस्कृतमय बनाकर वेदोंका पुनः समय लानेकी चेष्टा करनेसे राष्ट्रभाषा समृद्धिशाली तथा लोकप्रिय न हो सकेगी। हमको ऐसे शब्दोंका चुनाव करना चाहिए जिसे अधिक व्यक्ति समझ सके। अरबी, फारसी, संस्कृत, साथ ही अँग्रेजीके उन सभी प्रचलित शब्दोंको हिन्दीको अपना लेना चाहिए जो प्रतिदिनके व्यवहारमें या बोलचालमे आते हैं। हिन्दीमें एक जानसनकी आवश्यकता है। जानसनने जो कार्य अंग्रेजी भाषाको समृद्धशाली तथा शक्तिशाली बनानेमे किया, उसी तरहका कार्य हिन्दीके लिए होना चाहिए।

'भाषाका इतिहास' पुस्तककी शैली बोलचालकी हिन्दी है। उसमे फारसी शब्दोंकी बहुलता नही। ग्रामीणता नहीं, नागरिकताकी अधिकता है। 'इतिहास तिमिरनाशक' विद्यार्थियोंके लिए लिखी गई थी, इसलिए उसकी लेखन-शैलीमें फारसी तथा अरबीके प्रचलित शब्दोंका भी प्रयोग किया गया है।

इस शैलीमें बड़ा प्रवाह और ओज है। औरंगजेबकी फौजका वर्णन जहाँपर किया गया है, वह स्थल बड़ा प्रभावशाली और वीरत्वसे पूर्ण है।

राजा साहबके समयसे ही हिन्दीका आन्दोलन प्रारम्भ होता है। यद्यपि उस समयके विशुद्ध हिन्दीके पक्षपाती उन्हें राजभक्त तथा हिन्दी-द्रोही समझते थे, किन्तु वे अपने विचारोंपर अन्त तक दृढ रहे। इनका अटल विश्वास था कि बोलचालकी सार्वजनिक भाषा, जिसे राष्ट्रभाषा कहा जा सकता है, संस्कृतमय नहीं होनी चाहिए। आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी राजा साहबकी गणना 'अवतारी पुरुषों' में करते है।

२. 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका जन्म संवत् १९०७ विक्रमीमें भाद्रपद शुक्ल ७ को काशीमें हुआ। आपके पिता बाबू गोपालचन्द्र हिन्दीके प्रसिद्ध कवि और वैष्णव भक्त थे। आपकी अवस्था पाँच वर्षसे कम ही थी तभी माताका देहान्त हो गया। पिताके जीवनकाल तक आप घरपर ही अध्ययन करते रहे, इसके बाद क्वीन्स कालेजमें पढ़नेके लिए भर्ती हुए, किन्तु पढ़नेमें आपका मन नहीं लगा, इसलिए स्कूलका अध्ययन समाप्त कर स्वयं अध्ययन तथा मनन की ओर अग्रसर हुए। इसमें सन्देह नहीं है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्रमें हिन्दी-सेवा और नेतृत्वकी दैविक प्रतिभा थी। बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी। आप जन्मजात कवि, कलाकार, लेखक तथा नेता थे। पढ़ाईसे स्वतन्त्र होनेपर आपकी बुद्धिका विकास तीव्र गतिसे हुआ। काशीके धनी-मानी तथा रईसोंमें इनकी गणना होती थी।

उन दिनों काशीमें राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' का बड़ा नाम और प्रभाव था। ब्रिटिश सरकारकी ओरसे राजा साहबको 'सितारे हिन्द' की उपाधि दी गई थी। इधर जनता बाबू हरिश्चन्द्रकी हिन्दी-सेवा तथा देश-भक्तिसे अत्यन्त प्रभावित थी। इसलिए उसने आपको 'भारतेन्दु' की उपाधिसे विभूषित किया। काशीमें इस प्रकार साहित्य-जगतमें दो दल कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए। इन दलोंमें 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' के दलका पलड़ा भारी था। भारतेन्दु जनताके व्यक्ति थे। लगभग १० वर्षकी आयुमें ही आप हिन्दीमें उच्च कोटिकी कविताएँ लिखने लगे थे।

भारतेन्दु एक युग प्रवर्तक, नाटककार और निर्माता थे। आपने हिन्दी साहित्यमें नवीन युगकी स्थापना की। साहित्यकी उन्नतिका सामूहिक रूपसे बीड़ा उठाया। कितने ही नए-नए लेखकोंको हिन्दी-सेवाके लिए प्रेरित किया। इन्होंने नाटक, निबन्ध, आलोचना, कथा तथा विभिन्न विषयोंपर लेख लिखकर हिन्दी क्षेत्रमें ऐसा वातावरण उत्पन्न किया, जिसकी ओर शिक्षित-समुदायका ध्यान बरबस आकर्षित हुआ। हिन्दीमें पद्य-साहित्य तो पहले ही विकसित होता आ रहा था, किन्तु गद्यकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने बोलचालकी भाषाका प्रचार तथा प्रसारका बीड़ा उठाया। खड़ी-बोलीके गद्य तथा पद्य-साहित्यके प्रथम निर्माता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही थे। गद्य-साहित्यका निर्माण भारतेन्दुजीने अबाध गतिसे किया। 'हरिश्चन्द्र' पत्रिकाका प्रकाशन करके आपने गद्य-साहित्यके सृजन तथा निर्माणको हिन्दीको अपूर्व शक्ति प्रदान की।

आपने अपने छोटे-से जीवनकालमें छोटे-बड़े मिलाकर लगभग १७५ ग्रन्थोंकी रचना की। उन रचनाओंमें नाटक तथा निबन्ध-साहित्यका विशेष महत्व है। नाटक मौलिक और अनुदित दो प्रकारके हैं। उनमें सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्रा राक्षस, कर्पूरमंजरी, चंद्रावली, भारत जननी आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनके सभी नाटकोंका एक संग्रह 'भारतेन्दु नाटकावली' नामसे है। इतिहास, उपन्यास तथा काव्य-ग्रन्थोंकी भी आपने रचना की।

शुद्ध खड़ीबोलीमें विविध विचारोंसे सम्पन्न निबन्ध-साहित्यका सृजन भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने ही प्रारम्भ किया। निबन्धोंमें जीवनियाँ, ऐतिहासिक, पुरातत्व सम्बन्धी, धार्मिक, सामाजिक तथा सेवात्मक अनेक प्रकारके निबन्ध हैं। ये निबन्ध पूर्णतया मौलिक हैं। इन निबन्धोंके पढ़नेसे ज्ञात होता है कि भारतेन्दुजी कितने सुपठित तथा प्रतिभासम्पन्न थे। जिस विषयको उठाते थे, उसकी तहतक पहुँचकर तथ्यातथ्य पाठकोंके सामने रख देते थे।

भारतेन्दुने हिन्दीमें एक नए युगकी स्थापना की। भारतेन्दुका लक्ष्य था हिन्दीका भारतीय जनतामें प्रचार और विविध प्रकारसे साहित्यकी अभिवृद्धि, खड़ीबोलीका नए से संस्कार और श्रृंगार। भाषा सरल, सुबोध, भावपूर्ण और प्रसाद पूर्ण होनेके साथ ही संस्कृत शब्दोंसे युक्त थी। भारतेन्दुके

समयम तथा उनके पूव भाषाका कोई रूप स्थिर नहीं हो पाया था। भारतेन्दुने भाषाम एकरूपता उत्पन्न की और एक आकर्षक शैलीका सृजन किया।

भारतेन्दुकी भाषा-शैली बड़ी आकर्षक थी। इनकी शैली विवरणात्मक, भावात्मक, विवेचनात्मक, व्यंगात्मक तथा विश्लेषणात्मक थी। इस प्रकार आप स्वयं कई शैलियोंके जन्मदाता तथा निर्माता थे। इसीलिए हिन्दीके इस युगको 'भारतेन्दु युग' के नामसे पुकारा जाता है। भारतेन्दुने हिन्दीको नया जीवन दिया, नई दिशाकी ओर प्रेरित किया और भावी पीढ़ीके लिए एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया।

भारतेन्दुने कुल ३४ वर्षकी आयु पाई थी। १६ वर्षकी आयुमे इन्होंने सार्वजनिक क्षेत्रमे प्रवेश किया और १८ वर्ष तक एक मन और एक हृदयसे बराबर हिन्दी भाषा तथा साहित्यकी सेवा करते रहे। इस अल्पकालमें उन्होंने हिन्दीको जो दान दिया वह उनकी स्मृतिको चिरस्थायी बनानेके लिए यथेष्ठ है। जब तक हिन्दी भाषा और उनके बोलनेवाले ससारमें जीवित रहेंगे तब तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मरकर भी अमर हैं। आधुनिक युगके हिन्दी साहित्यके आप जनक और निर्माता थे। संवत् १९४७ विक्रमीमें इनका देहावसान हुआ।

* * *

देवनागरी लिपि और अंक

✻

[राष्ट्रभाषा हिन्दीके प्रश्नपर राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डनने भारतीय-संविधान-परिषदमें सितम्बर सन् १९४९ ई. में एक ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण भाषण दिया था, उसमें उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दीके साथ-साथ देवनागरी लिपि और नागरी अंकोंके सम्बन्धमें कुछ महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किए थे। इस लेखमें उन्हीं विचारोंको एकीकरण किया गया है। संविधान-परिषदने व्यवहारके निमित्त देवनागरी लिपिके साथ अंग्रेजी अंकोंको स्वीकृति प्रदान की थी।]

"समयकी गतिके साथ भारतमें अँग्रेजी भाषाका चाहे जो कुछ भविष्य हो, किन्तु अँग्रेजी भाषाके जिन रोमन अंकोंको हमने सीखा है और भारतीय अंकोंके अन्तर्राष्ट्रीय रूपके नामसे पुकारे गए हैं, वह अवश्य ही बने रहें और नागरी लिपिके अविछिन्न अंग बन जाएँ। वह हमारी देवनागरी लिपिके संस्कृत अंकोंका स्थान ग्रहण करें—जहाँ कहीं भी और जब कभी भी भारतीय संघके कार्योंमें देवनागरी लिपिका प्रयोग हो"–जिनकी दृष्टि इस प्रकार की है, उसका मैं समर्थक नहीं हूँ। आज हम लोग जो कुछ कर रहे हैं, उसका सम्बन्ध केवल हमसे ही नहीं है और न उसका सम्बन्ध विभिन्न प्रान्तोंमें निवास करनेवाले

अल्पसंख्यक स्त्री पुरुषोंसे ही है जिनकी अंग्रेजी ढंगसे शिक्षा हुई है और जिनः अंग्रेजी भाषासे ही पोषण तथा विकास हुआ है। वरन् हमारे निर्णयोंका प्रभा उन करोड़ों पुरुषों और स्त्रियोंपर पड़ेगा, जिनका अँग्रेजी भाषासे कोई सम्प नहीं रहा है, जिनके लिए अँग्रेजी भाषासे कोई सम्पर्क होना असम्भव है, औ जिन्हें उनकी वर्तमान दशासे ऊपर उठाकर लोकतन्त्र तथा प्रशासनका प्रशिक्ष देना है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हम जो कुछ निर्णय करते हैं उनका प्रभाव केवल वर्तमान पीढ़ीके लोगोंपर ही नहीं पड़ेगा वरन् उनसे आनेवाली पीढ़ियोंके भाग्यका भी रूपांकण होगा।

मैं सदैव इस विचारसे पूर्णतया सहमत रहा हूँ और मैंने स्वयं भी अनेक अवसरोंपर कहा है कि हमने विगतकालमें जो कुछ प्राप्त किया है, उसीपर सन्तुष्ट नहीं रह सकते और न हम प्राचीन ढाँचोंमें अपनेको पूर्णतया ढाल ही सकते हैं। मैंने लोगोंके सम्मुख यह आदर्श रखे हैं :—

समयभेदेन धर्मभेदः।
अवस्थाभेदेन धर्मभेदः॥

समय और परिस्थितियोंके अनुसार हमारे धर्म और कर्तव्योंमें परिवर्तन होता है। ये प्राचीन सूक्तियाँ हैं। हमें यह स्मरण रखना है कि हमारे जीवन-क्रमकी साधारण प्रणालियाँ एक समय तक रहती हैं और फिर चली जाती हैं। संसार गतिशील है। आजकी प्रणालियाँ कल नई प्रणालियों, रीतियों और विचार-धाराओंको स्थान दे देती हैं। प्राचीनके पादमूलके पीछे एक नवीन सौन्दर्य चलता रहता है। यदि हम चाहें तो भी जीवनके इस महान मूलभूत तत्वसे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते। हमें यह स्मरण रखना है कि हमारी जड़ अतीतमें है और उससे हम अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकते। इस प्रकारसे हम अतीतके संग एक सुदृढ़ किन्तु अदृश्य आकाशिक शृंखलासे बँधे हुए हैं, जो समयके साथ निरन्तर बढ़ती चली जाती है, किन्तु न तो टूटती है और न तोड़ी ही जा सकती है। अतः हम जो प्रयत्न करें, हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैसे-जैसे हम अपनी भवितव्यताकी ओर आगे बढ़ते जाएँ, वैसे-वैसे अतीतसे हमको बाँधनेवाली वह लम्बी और दृढ़ शृंखला दुर्बल न होने पाए, वरन् होना तो यह चाहिए कि वह प्रत्येक पगपर और भी दृढ़ होती जाए।

हमारा तात्विक राजनैतिक सिद्धान्त यह होना चाहिए कि हमारा जीना भूतकालमें न हो वरन् वह उस वर्तमानमें हो जो हमें अतीतमें बाँधे रखता है।

मैं नव गुणों अथवा अच्छाइयोंको ग्रहण करनेके पक्षमें हूँ, जो पश्चिम हमें सिखा सकता है। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिममें चमकनेवाली सभी वस्तुएँ सुवर्ण नहीं है। केवल पश्चिमी होनेके कारण कोई वस्तु सर्वथा गुणप्रद नहीं हो जाएगी। हमारे देशने भी ऐसी उच्चकोटिकी विचारशील संस्कृतिको जन्म दिया है, जो समयकी गतिके साथ सम्भवतः सम्पूर्ण मानव जातिके भाग्य निर्माणपर अधिकाधिक प्रभाव डालेगी।

हम लोग कई वर्षोंसे राष्ट्रभाषाकी बात करते आए हैं। यह उन्नीसवीं शताब्दीकी बात है कि राष्ट्रभाषा सम्बन्धी भावनाने बंगालमें रूप धारण किया, युक्तप्रान्त या बिहारमें नहीं। बंकिमचन्द्र चटर्जीका मूल लेख मेरे पास है। इस विषयपर मेरे पास केशवचन्द्र सेनका मूल कथन है। सन् १९०८ ई. में 'वन्देमातरम' में—जिसके सम्पादक श्री अरविन्द घोष थे—जो कुछ छपा था, उसका मूल मेरे पास है......। इस विचारको वहाँ रूप मिला और फिर तिलकने उसका समर्थन किया तथा राष्ट्रपिता महात्मा गांधीने इसे उठा लिया। मेरा अभिप्राय यह है कि यह आन्दोलन वर्षोंसे चला आ रहा है और लोगोंने कुछ निश्चित विचारधाराके अनुसार हिन्दीको राष्ट्रभाषा स्वीकार करानेके निमित्त कार्य किया है। यह बात मान ली गई है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा है और विभिन्न प्रान्तोंमें इसी धारणापर कार्य होता रहा है। बंगाल, आसाम, महाराष्ट्र, गुजरात तथा उड़ीसामें यह कार्य वर्षोंसे चल रहा है। वर्धाकी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा हिन्दीमें परीक्षाएँ संचालित होती हैं और लाखों युवक और युवतियाँ जो हिन्दी भाषी प्रान्तोंके नहीं हैं वरन जो अहिन्दी भाषी क्षेत्रोंके हैं, प्रतिवर्ष उनमें बैठते हैं। इससे पता चलता है कि यह नवीन विचार नहीं है और इस विचारके आधारपर देशमें कार्य होता रहा है। क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि यह अंको सम्बन्धी विचार देशमें कबसे उत्पन्न हुआ है? हमारे अंक हमारी प्राचीन सम्पत्ति हैं। यह भी कभी कहा जाता है कि अँग्रेजीके यह अंक हमारे हैं और हम उन्हें फिर क्यों न अपना लें? मानो हमारे अंक खो गए थे और हम उन्हें फिरसे प्राप्त करने जा रहे हैं।

एसा कोई बात नहीं है इन अंकोंका ज्ञान निश्चय ही हमारे देशसे अरब द्वारा यूरोप पहुंचा। हम सबको इसका गर्व है। अन्य कई बातोंमें भी यूरोप हमारा ऋणी है। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि जो वस्तु हमारे बीच विकसित हुई है, उसका हम परित्याग कर दें और उन वस्तुओंको, जो मूलरूपसे यहाँसे गई है, उनके परिवर्तित स्वरूपमें पुनः ग्रहण कर लें। अपनी आवश्यकताओं-के अनुसार उन्होंने उनके स्वरूपमें परिवर्तन किए हैं और हमने भी अपने रूपोंमें अपनी बौद्धिक प्रणालीके अनुकूल परिवर्तन किए हैं। परिस्थितियों और वातावरणके अनुसार सर्वत्र परिवर्तन होते हैं। हमारे देशमें भी परिवर्तन हुए हैं। इसी प्रकार हमारे अंकोंका भी विकास हुआ है। वैदिक कालमें वे एक विशेष प्रकारसे लिखे जाते थे। फिर परिवर्तन हुआ और लगभग १६ शताब्दियोंसे वे वर्तमान रूपमें लिखे जा रहे हैं। क्या हम इन रूपोंको छोड़ दें, जो इतने लम्बे समयसे प्रयोगमें आ रहे हैं? मैं कहता हूँ कि अन्तरराष्ट्रीयतावाद कोई तर्क नहीं है और यह न्याय नहीं है कि इस प्रकार हम अपने लोगोंसे सहसा उनके अंकोंको छोड़नेके लिए कहें।

देवनागरी लिपिके सम्बन्धमें, जिसमें अंक भी सम्मिलित हैं, यह अधिकृत रूपसे कहा गया है कि हमारी प्रणाली संसारकी वर्तमान सभी प्रणालियोंमें सबसे अधिक पूर्ण है। मैं आपको एक दो उद्धरण सुनाऊँगा, यद्यपि मेरे पास कई हैं। यह एक, प्रोफेसर मोनियर विलियमका उपस्थित करता हूँ :—

"और अब कुछ शब्द देवनागरी अथवा हिन्दी प्रणालीके सम्बन्धमें कहता हूँ। इसमें यद्यपि दो महत्वपूर्ण वर्णोंकी कमी है जो रोमन लिपिमें (जेड) और (एफ) द्वारा प्रकट किए जाते हैं........ (जिस अभावकी पूर्ति जैसा कि आपको विदित है, बिंदुओं द्वारा की गई है।) ....तथापि वह कुल मिलाकर सबसे अधिक पूर्ण तथा समस्त ज्ञात वर्णमालाओं में सुडौल है। हिन्दुओंका विश्वास है कि यह सीधे पुनीत संस्कृतकी सुडौलताके साथ अद्भुत समन्वय इसे मानवीय आविष्कारके स्तरसे ऊँचा उठा देता है।"

स्वर्गीय सर आइजक पिटमैनने जो ध्वनि-शास्त्रके बड़े आग्ल आविष्कारक थे, कहा है :—

"यदि संसारमे कोई भी वर्णमाला सर्वाधिक पूर्ण है तो यह हिन्दीकी है।"

कुछ मित्रोंका सुझाव है कि रोमन लिपि अपनाई जाए। उनके लिए यह उचित है कि वह उक्त उद्धरणोंपर विचार करें। मेरा विचार है कि सम्भवतः जब हमारा देश शक्तिशाली बनेगा, यूरोपीय जातियाँ स्वतः हमारी वर्णमालाके विशेष गुणको जाननेकी ओर आकर्षित होंगी। हमारी भाषाको रोमन लिपि देनेका प्रश्न १९ वीं शताब्दीमे भी उठाया गया था। इंगलैण्डके कुछ विद्वान यहाँके लोगोंको रोमन लिपिके माध्यमसे शिक्षा देना चाहते थे। इसपर लम्बा विवाद चला था और अन्तमे ब्रिटिश सरकारने निर्णय किया कि रोमन लिपिका प्रयोग इस देशमे लाभकारी न हो सकेगा और नागरी लिपि सबसे अधिक उपयुक्त है। अब हमारी भाषाको रोमन रूप देनेके विचार करनेके दिन चले गए।

तात्पर्य यह कि सर्वांगपूर्ण देवनागरी लिपिमें जो अनादिसे चली आ रही है, हमे हिन्दीको राजकीय भाषा बनाना उचित है। यह उचित नहीं है कि एकाएक जब कि जनताको इस विषयका ज्ञान नही है, और न यह विषय ही पर्याप्त समय तक उसके सामने रहा है, उस लिपिसे नागरी अंक पृथक कर दिए जाएँ और उनके स्थानपर तथा कथित अन्तरराष्ट्रीय अंक अथवा अँग्रेजी अंक रख दिए जाएँ।

मै कहता हूँ कि पन्द्रह वर्षो तक देवनागरी लिपिके भारतीय और अन्तरराष्ट्रीय दोनो प्रकारके अंकोंको मान्यता दे दी जाए और फिर राष्ट्रपति अथवा सरकार, समय-समयपर निर्णय करे कि किस कार्यमें एक प्रकारके अंकोंका प्रयोग हो और किस कार्यमे दूसरे प्रकारके अंकोंका प्रयोग हो। सरकारी कार्य कई वर्षो तक अँग्रेजीमे होगा। कुछ मित्रोंने सुझाया है कि सांख्यिकी हिसाबकी वहियों तथा बैंकोंके कार्योंके लिए अन्तरराष्ट्रीय अंकोंके प्रयोगकी आवश्यकता है। अतएव मैं चाहता हूँ कि जहाँ तक इन विषयोंका सम्बन्ध है, इनमें १५ वर्षकी पूरी अवधि तक केवल अँग्रेजी भाषाका प्रयोग हो। अन्तरराष्ट्रीय अंकोंको रखनेका मुख्य

प्रयोजन अंग्रजी भाषाके प्रयोगसे ही सिद्ध
अंकोका प्रयोग तो होगा ही। मैं नही स
चाहता हूँ कि साधारण हिन्दी पुस्तकोके प्रकाशन
हो। यदि सरकार किसी कार्य विशेषके लिए अं
चाहती है, तो वह ऐसा कर सकती है। आवश्यक
हिन्दी अंकोंका प्रयोग करे। मैं इस आग्रहको स्वी
नही कि सदा-सर्वदाके लिए देवनागरी अंकोंके स्थान
ही प्रयोग होना चाहिए। हमारे नागरी अंक अधिक
स्वरूपके अनुकूल है।

* * *

श्रीमद्भागवत : ग्यारहवाँ स्कन्द

प्रथम अध्याय

भगवान श्रीकृष्ण अंतिम कसौटीपर

※

[राजर्षि टण्डनजी संस्कृतके मर्मज्ञ और विद्वान थे; संस्कृत विद्वानोंके वह नम्रतापूर्वक बड़े सम्मानसे सर झुकाते थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि ऋषियों द्वारा प्रणीत संस्कृत वाङ्गमयकी महत्वपूर्ण कृतियाँ—पुराणों, महाभारत, उपनिषदों तथा शास्त्रोंका प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी भाषामें प्रस्तुत किया जाए। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनमें उन्होंने इस कार्यको मूर्तरूप देनेके लिए एक योजना प्रस्तुत की और एक विशिष्ट विभागकी स्थापना की और कई विद्वानोंको अनुवाद-कार्यके लिए नियुक्त भी किया। इस विभाग द्वारा संस्कृतके कई बहुमूल्य ग्रन्थोंका प्रकाशन भी हुआ। टण्डनजी कभी-कभी अपने शिष्योंको बैठाकर स्वयं अनुवाद-कार्य बोलकर कराते थे। वे चाहते थे कि भारतीय संस्कृतिकी रक्षा तथा प्रचारकी दृष्टिसे सरल और सुबोध हिन्दीमें जनताके पठन-पाठनके लिए अनुदित ग्रन्थ उपलब्ध किए जाने चाहिए।

यह रचना हमें राजर्षि टंडनजीके पुराने साथी और सम्मेलनके शुभ-चिंतक स्वर्गीय आयुर्वेदपंचानन पंडित जगन्नाथप्रसाद शुक्लसे, उनके दिवंगत होनेके चार-पाँच वर्ष पूर्व प्राप्त हुई थी। उन दिनों शुक्लजी मुझे अपनी 'आत्म-कथा' बोलकर लिखवा रहे थे। जन्म-कालसे लेकर प्रयागमें आकर निवास करनेके समय तक की उनकी 'आत्मकथा' अब भी हमारे पास सुरक्षित है। राजर्षि टंडनजीकी यह रचना जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें उनके पुराने कागज-पत्रोंमें बिखरी पड़ी हुई मिली। रचनाकी प्रतिलिपि यहाँ दी जा रही है।

—सम्पादक]

श्री शुकदेवजी परीक्षितसे बोले :—परीक्षित, भगवान कृष्णने अपने भाई बलरामजी तथा अन्य यदुवंशियोंके साथ मिलकर बहुतसे दैत्योंका संहार किया, यों कहिए कि उनका उद्धार किया। इसके सिवा उन्होंने कौरव और पांडवोंमें भी भेद उत्पन्न करके पृथ्वीका बहुत बड़ा भार उतार दिया। कौरवोंने कपट-पूर्ण जुएसे, तरह-तरहके अपमानोंसे तथा द्रौपदीके केश खींचकर पांडवोंको अत्यन्त क्रोधित कर दिया था। उन्हीं पांडवोंको निमित्त बनाकर भगवान कृष्णने दोनों पक्षोंमें एकत्रित हुए राजाओंको मरवा डाला और इस प्रकार पृथ्वीका भार हलका कर दिया।

यह प्रसिद्ध है कि अधर्मके उच्छेद व धर्मको स्थापना तथा सज्जनोंकी रक्षा व दुर्जनोंको दण्ड देनेके लिए श्रीकृष्णका अवतार हुआ था। धार्मिक पुरुष यह मानते हैं कि सर्व शक्तिमान भगवान समय-समयपर पृथ्वीका भार उतारनेके लिए जन्म लेते हैं। वे अपने सच्चिदानन्द रूप परम ऐश्वर्यसे उतरकर मनुज या दूसरे जीवरूपमें आते हैं। इसलिए उसे अवतार कहते हैं। जो बुद्धिवादी हैं या आध्यात्मिक तत्वोंपर विश्वास नहीं करते वे ऐसे विभूतिमान पुरुषोंको 'महापुरुष' के नामसे सम्बोधन करते हैं। उनका मत है कि ऐसे पुरुषोंको बादके लोग, विशेषकर वे जो शास्त्रों और पुराणोंमें विश्वास करते हैं, या जो भावुक हैं, अवतार मानने लगते हैं। यदि यह बात सच है कि ईश्वर घट-घटमें व्याप्त है, तो फिर सभीको—भूतमात्रको—प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थको अवतार क्यों नहीं माना जाता? इस अर्थमें सब अवतार ही हैं; परन्तु जिसमें भगवानके छः गुण—ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, कीर्ति, शक्ति और

तेज, विशेष रूपमें प्रगट होते हैं, श्रीको आसनोंपर अवतार करते हैं। इस परम्पराके अनुसार भगवान कृष्णने दैत्योंको मारा, कौरव-पांडव दोनों भाई-बन्धुओंमें महाभारतका युद्ध कराया, जिसमें अत्याचारी कौरवोंकी हार हुई। अब वे अपने शेष कर्तव्यपर विचार करने लगे।

भगवान श्रीकृष्णको पृथ्वीका भार हरना मंजूर था। लेकिन भगवान श्री या महापुरुष, सदा दूसरोंको निमित्त बनाकर उनकी सहायतासे उनके द्वारा अपना कार्य किया या कराया करते हैं। भगवान समाजकी जो कुछ भलाई या सुधार करना चाहते हैं, वह मनुष्योंके द्वारा ही हो सकती है। श्रीकृष्णको अपने जीवन-कार्यकी सिद्धिके लिए पाण्डव अच्छे साधन मिल गए। पांडव धार्मिक, न्याय-प्रिय, पाप-भीरु व सदाचारी थे। इनके विपरीत कौरव धर्मा-ज्ञाओंके विपरीत चलनेवाले, अन्यायी, पाप-प्रिय व अभिमानी थे। वे कपट-जुएसे महाराज युधिष्ठिरको हराके द्रौपदीका अपमान भरी सभामें कर चुके थे। यद्यपि उस समय भले लोग, भिन्न-भिन्न कारणोंसे चुप हो रहे, कमजोर व असहाय बनकर उस सतीका अपमान चुपचाप देखते रहे, परन्तु सबके दिलपर चोट जबरदस्त लगी। पाण्डव तो इसका प्रतिकार करनेकी सोच ही रहे थे। द्रौपदीके हृदयमें दिन-रात उस अपमानकी ज्वाला धधकती रहती थी। वह उसका बदला लेनेके लिए किसी भी प्रसंगसे चूकना नहीं चाहती थी। अतः श्रीकृष्णने इनको अपनी कार्य-सिद्धिके लिए सुपात्र समझा व उनकी सहायतासे अनेक दुष्ट पुरुषोंको खतम कराके समाजमें दुर्वृत्तियोंके प्रति तिरस्कार व सद्वृत्तियोंके प्रति प्रेम व आदर बढाया। साथही संसारको यह शिक्षा भी दी कि यदि हमारा उद्देश्य शुभ है, पवित्र है, तो बडी-से-बड़ी जोखिम उठानेमें भी न हिचकिचाना चाहिए व यदि अत्याचारी हमारे बंधु-बांधव भी हों तो भी उनको परास्त करना ही उचित है।

यदुवंशियोंके रक्षक स्वयं भगवान थे। उनके बाहुबलसे ही वे सुरक्षित थे। उनके द्वारा भगवानने राजाओंके वेषमें रहनेवाले दैत्योंकी बड़ी-बड़ी सेनाएँ नष्ट कर दी, जो पृथ्वीके लिए भार-स्वरूप थी। किन्तु भगवानकी लीला और उनके संकल्पोंका रहस्य जीव किसी भी साधनसे नहीं जान सकता। वे अप्रमेय हैं। इतना काम कर चुकनेके बाद उन्होंने विचार किया कि यद्यपि दूसरोंकी दृष्टिसे तो पृथ्वीका भार उतर गया, परन्तु मेरी दृष्टिसे अभी वह

पूर्णतया नहीं उतरा क्योंकि अभी ये यदुवंशी बचे हुए हैं। संसारमें कोई भी इनका सामना नहीं कर सकता। यदुवंशी मेरे आश्रयमें रहनेवाले हैं। मेरे स्वधाम गमनके बाद ये धन-वैभवके घमंडसे उच्छृंखल हो जाएँगे, मर्यादाका उल्लंघन करने लगेंगे और मेरे सिवा दूसरा कोई किसी प्रकार इनको पराजित नहीं कर सकता। इसलिए मुझे ही इनका उपाय सोचना होगा। इसका उपाय यही है कि अपनी ही रगड़से पैदा हुई आग बाँसोंके झुरमुटको जला डालती है, वैसे ही यदुकुलमें भी फूट पैदा करके मैं इन्हें नष्ट कर दूँ। तब मेरे अवतारका कार्य पूरा हो जाएगा और मैं शांतिपूर्वक अपने धामको चला जाऊँगा। राजन्! भगवान सर्व शक्तिमान और सत्य-संकल्प हैं। वे ही सबके हृदयोंमें अन्तर्यामी और प्रेरक रूपमें बैठे हैं। उन्होंने इस प्रकार अपने मनमें निश्चय किया और ब्राह्मणोंके शापके बहाने अपने ही वंशका संहार कर डाला। सबको समेटकर अपने धाममें ले गए।

महाभारतके पहले व महाभारतके सिलसिलेमें अनेक दुष्टों व उनकी सेनाओंको मिटाकर भी श्रीकृष्णको सन्तोष न हुआ। उनकी दृष्टिमें अभी पृथ्वीका सम्पूर्ण भार नहीं हटा था। अभी स्वयं उनका ही यदुवंश बाकी था, इसमें बड़े-बड़े मदांध, असंयमी, दुर्व्यसनी लोग भर गए थे। कपूर आगको सुलगानेके निमित्त होता है, किन्तु वह आग फिर सारे कपूरको ही खा जाती है। इसी तरह जिस यदुवंशके सहारे उन्होंने पृथ्वीसे दुष्टोंका निकंदन किया था, वही यादव अब दुनियाको तबाह करनेमें प्रवृत्त हो रहे थे।

जिसका हृदय शुद्ध होता है, उसे अपनेमें तथा अपने बाहर थोड़ी भी गंदगी असह्य हो जाती है। जो बलवान या विद्वान है उसे निर्बलता या मूर्खता बरदाश्त नहीं होती। जो पुण्यात्मा होता है, उसे संसारका पाप असह्य हो जाता है व तब तक उसे शांति नहीं मिलती, चैन नहीं पड़ती, जब तक कि वह जड़-मूलसे न उखाड़ दिया जाए। श्रीकृष्णने और तो तमाम दुष्टोंको दण्ड दे डाला; परन्तु स्वयं उनके घरमें ही जब दुष्टता छिपी व घुसी हुई हो तो उन्होंने उसे भी मिटानेका संकल्प कर लिया। जिसे बाहरी बुराई बरदाश्त न हुई, वह घरकी बुराईको कैसे सह सकता है, भले ही उसे मिटानेमें अपने सारे वंश-परिवारका ही क्षय क्यों न हो जाए? सत्पुरुष या महापुरुषके सामने तत्व,

सिद्धान्त धर्म नीति उद्देश्य और रंगका प्रश्न रहता है। इनकी सिद्धि या स्थापनाके मार्गमें मनुष्योंका—इष्ट मित्र, सगे-सम्बन्धी किसीका मोह वे बाधक नहीं होने देना चाहते। अतः भगवान कृष्णने इस मोहसे ऊपर उठकर, अपने महान व श्रेष्ठ जीवन-कार्यकी सिद्धिके लिए, अपने तमाम प्रियजनोंके नाशका उपाय सोचा।

भगवान श्रीकृष्णने अपने मनमें कहा—ये यादव केवल उच्छृंखल, स्वेच्छाचारी ही नहीं हैं, बल्कि खुद मेरे कुलके व मेरे आश्रित भी हैं। जो वैभव मैंने इनकी उन्नति व सदुपयोगके लिए जुटाया था, उसीसे उल्टे ये मदान्ध हो गए हैं। इसकी जिम्मेदारीसे मैं बच नहीं सकता। मेरे 'स्वजन' होनेके कारण दूसरा कौन इनके दण्डके लिए अग्रसर होनेका हौसला करेगा? और शायद कोई सफल भी न हो। तब यही उचित है कि मैं खुद ही इनके विध्वंसका उपाय सोचूं। भले ही लोग यह कहें कि जैसे बाँस अपने ही वंशको जला डालता है, वैसे ही कृष्णने अपने ही वंशका विनाश कर दिया। खुद अपने घरमें भी आग लगा दी। यह सत्य है कि दुनियाके लोग बाहरी आचार, बाहरी फलको देखकर राय बनाते हैं, आलोचना करते हैं, परन्तु जो मर्मज्ञ हैं, अन्तर्दृष्टि हैं, उन्हें कदापि मेरे इस कार्यमें गलतफहमी नहीं हो सकती। समाजको सुधारनेके लिए, स्वस्थ बनानेके लिए, बिगड़े अंगोंको कठोर चित्तसे काटही डालना पड़ता है। सबके लाभके लिए थोड़ेका बलिदान जरूरी हो जाता है। अतः मैं ही अकेला इनके दमनमें सफल हो सकता हूँ। और खुद मुझीको यह जिम्मेदारी लेनी चाहिए। तभी मुझे शांति मिलेगी और तभी मैं सुखपूर्वक निजधामको जाऊँगा। क्योंकि मरते समय मेरा यह काम यदि बाकी रह गया, यह संकल्प अधूरा रह गया, तो मुझे शांति न मिलेगी। जीवन-कार्य पूरा न हो पाया तो यह कसक मनमें बनी रहेगी। मरते समय जिसके मनमें यह सन्तोष रहे कि मैंने अपने सब कर्तव्योंको पूरा कर लिया, उसीको आखिरी शांति मिलती है।

महापुरुष सत्य-संकल्प हुआ करते हैं। वे जो संकल्प करते हैं वह सत्य-सफल हो जाता है या उन्हें उसके सफल होनेका आत्म-विश्वास रहता है। भगवान कृष्णको यह विश्वास था कि मैं इस शुभ कार्यमें अवश्य सफल होऊँगा।

क्योंकि इसकी क्षमता भी वे अपनेमे मानते थे। तब उन्होंने इसका एक प्रत्यक्ष उपाय सोचा। मुझे अपने दैवीबलको प्रेरित करनेके लिए कोई निमित्त जरूर चाहिए। यदि सीधे राज-दण्ड-शक्तिसे काम लेना चाहूँ तो संभव है पिताजी व बलदादाका समर्थन न मिले। ऐसी दशामें कोई और ही तरकीब निकालनी चाहिए। अतः उनके इस संकल्पसे यादवोंके मनमें एक कुचेष्टा करनेकी बुद्धि पैदा हुई। अथवा बुद्धिवादीकी भाषामें—यादवोंके कुकर्मोंने ही उनके मनमें अपने विनाशके लिए दुर्बुद्धिकी प्रेरणा की। उन्होंने एक ब्राह्मण ऋषिको चकमा दिया, जिससे क्रुद्ध होकर उन्होंने उन्हें श्राप दे डाला।

जब किसी निर्मल चित्त, सरल हृदय व्यक्तिको कोई धोखा देता है, उसके साथ कपट-व्यवहार करता है, तो उसे औरोंकी अपेक्षा अधिक आघात पहुँचता है। जो खुद कपटी होते हैं, उन्हें दूसरोंके कपटसे सहसा इतनी चोट नहीं पहुँचती। अतः जब यादवोंने उस ऋषिको धोखा देनेकी चेष्टा की तो उनके शुद्ध चित्तसे सहसा उनके अशुभकी कामना प्रगट हो गई। या यों कहें कि उनका जो भावी अशुभ उन्हें अपनी दिव्य-दृष्टिमें दिखाई दिया उसकी घोषणा उन्होंने कर दी। वास्तवमें मनुष्य फल तो अपनी ही करनीका पाता है, दूसरे तो उसमें निमित्त भर हो जाया करते हैं। इस तरह श्राप-दण्ड और प्रतिफल दोनों हो सकता है।

परीक्षित, भगवानकी वह मूर्ति त्रिलोकीके सौन्दर्यको तिरस्कृत करनेवाली थी। उन्होंने अपनी सौंदर्य-माधुरीसे सबके नेत्र अपनी ओर आकर्षित कर लिए थे। उनकी वाणी, उनके उपदेश परम मधुर और दिव्य थे। उनके द्वारा उन्हें स्मरण करानेवालोंके चित्त उन्होंने छीन लिए थे, बलात् अपनेमें लगा लिए थे। उनके चरण-कमल त्रिलोक-सुन्दर थे। जिसने उनके एक चरण-चिन्हका भी दर्शन कर लिया उसकी बहिर्मुखता दूर भाग गई; वह कर्म-प्रपंचसे ऊपर उठकर उन्हींकी सेवामें लग गया। उन्होंने अनायासही पृथ्वीमें अपनी कीर्तिका विस्तार कर दिया, जिसका बड़े बड़े कवियोंने बड़ी ही सुन्दर भाषामें वर्णन किया है। वह इसलिए कि मेरे चले जानेके बाद लोग मेरी इस कीर्तिका गायन, श्रवण और स्मरण करके उस अज्ञान रूपी अन्धकारसे सुगमतासे पार हो जाएँगे। इसके बाद परम ऐश्वर्यशाली भगवान कृष्णने अपने धामको प्रयाण किया।

जब भगवान कृष्णको अपना इस प्रकारकी समस्त चारित्र-लीलासे कृतार्थता अनुभव हुई तभी वे अपने धामको चले गए। क्योंकि संसारमें अब उनका कोई भी कर्तव्य बाकी नहीं रहा था। संसारकी दृष्टिसे उनकी उपयोगिता समाप्त हो गई थी। अतः बुद्धिमान पुरुष उस वस्तुको छोड़ देते हैं जिसकी उपयोगिता नष्ट हो चुकी हो। महापुरुष. और तो ठीक अपने जीवन तकको निरुपयोगी समझ चुकनेपर छोड़ देते हैं।

राजा परीक्षितने पूछा—भगवन्, यदुवंशी बड़े ब्राह्मण भक्त थे। भक्ति ही नहीं उनमें उदारता भी थी। यह उदारता उन्हें अपने कुल वृद्धोंकी नित्य-निरंतर सेवा करनेसे प्राप्त हुई थी। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनका चित्त सदा भगवान् श्रीकृष्णमें लगा रहता था। फिर उनसे ब्राह्मणोंका अपराध कैसे बन पड़ा? और क्यों ब्राह्मणोंने उन्हें श्राप दिया? उस श्रापका क्या कारण था? समस्त यदुवंशियोंके आत्मा, स्वामी और सर्वस्व एक भगवान श्रीकृष्ण ही थे, फिर उनमें फूट कैसे हुई? दूसरी दृष्टिसे वे ऋषि अद्वैतदर्शी थे, फिर उनकी ऐसी भेद-दृष्टि कैसे हुई? जो इतने सत्पुरुष जैसे थे, उन्हें कुमति कैसे उपजी? सत्पुरुषोंको उनके अच्छे संस्कारों व आचारोंके कारण सन्मति ही सूझती है, तो यह विपरीत कार्य यहाँ कैसे हुआ? यह सब आप कृपा करके मुझे बतलाइए।

श्री शुकदेवजी बोले :—भगवान श्रीकृष्णका प्रत्येक अंग विश्व सौन्दर्यका आश्रय था। ऐसा मंगलमय स्वरूप पृथ्वीमें प्रगट करके, कृतकृत्य तथा परिपूर्ण होनेपर भी जीवोंके कल्याणके लिए उन्होंने समय-समयपर अनेक लीलाएँ की। अपने पुण्यधाम मथुरा, गोकुल, वृन्दावन तथा द्वारकामें विहार करके लोगोंके लिए अपनी विशद और पवित्र कीर्ति स्थापित की। इसके बाद यदुवंशको भी समेट लेनेकी इच्छा प्रगट की, क्योंकि अब उनके लिए यही एक काम जीवनमें शेष रह गया था। भगवान श्रीकृष्णने परम मंगलमय तथा पुण्योंसे भरे हुए ऐसे कर्म किए, जिन्हें गा-गाकर लोग अपने ही नहीं वरन् सारे जगतके कलि-मलको धो डालते हैं। वही भगवान कृष्ण अब महाराज उग्रसेनकी राजधानी द्वारका पुरीमें यादवोंका संहार करनेके लिए काल-रूपमें ही निवास कर रहे थे। उस समय उन्हींकी प्रेरणासे बहुतसे ऋषि और मुनि वहाँ आकर द्वारकाके

पास ही पिंडारक क्षेत्रमें निवास करने लगे। इसलिए मुनियोंमें शाप देनेकी प्रवृत्ति भगवानकी प्रेरणासे ही हुई। उनमें कई बड़े-बड़े ऋषि भी थे—विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अंगिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ठ और नारद आदि।

भगवान कृष्ण पूर्ण काम थे। उनकी सब इच्छाएँ पूरी हो चुकी थी। उन्होंने अनेक मंगल कृत्य किए थे। उनके शरीरमें एक विलक्षण सौन्दर्य और आकर्षण था। महापुरुषके जीवनके साथ सौन्दर्य मिला रहता है। वह केवल रूप-सौन्दर्य ही नहीं है बल्कि हृदय-सौन्दर्य भी है। हृदय उनका मधुर, सुकोमल भावनाओंसे भरा रहता है। वही सौन्दर्यके रूपमें उनके मुख-मण्डलपर दमक जाता है। ऐसे श्रीकृष्णने अपने कुलके नाशका आयोजन किया, क्योंकि इसमें उन्हें अपने कुलका व संसारका मंगल मालूम पड़ता था। इसलिए उस समय श्रीकृष्णने मानों काल-रूप धारण कर लिया। उनकी विध्वंसक शक्ति अपने अंतिम कार्यको करनेके लिए तैयार हो गई थी। जब ऋषियोंने देखा कि अब द्वारका उजड़नेवाली है तो वे पासके ही एक क्षेत्रमें चले गए। जब यादव यहाँ नहीं रहेंगे व श्रीकृष्ण भी इहलीला समाप्त कर देंगे, तब ये ऋषि लोग उस 'कुग्राम' में रहकर क्या करते? वे तो श्रीकृष्णके जीवन-कार्यमें सहायक होनेके लिए आए थे, उसे पूर्ण होते हुए देख वहाँसे बिदा हो गए।

एक दिन यदुवंशके कुछ उद्दंड कुमार खेल खेलते हुए उन ऋषियोंके पास जा निकले। उन्होंने बनावटी नम्रतासे ऋषियोंके चरणोंमें प्रणाम किया। वे जाम्बवतीनंदन साम्बको स्त्री वेषमें सजाकर ले गए और कहने लगे—ब्राह्मणो, यह सुन्दरी गर्भवती है। यह आपसे एक बात पूछना चाहती है, परन्तु स्वयं पूछनेमें संकोच करती है। आप लोगोंका ज्ञान अमोघ अबाध है तथा आप सर्वज्ञ हैं। आप लोग बतलाइए कि इसके गर्भसे पुत्री होगी या पुत्र। परीक्षित, जब उन यादव-कुमारोंने ऐसा कहकर इन ऋषि-मुनियोंको धोखा देना चाहा तो वे भगवानकी प्रेरणासे क्रोधित हो उठे। उन्होंने कहा:—'मूर्खो, यह एक मूसल पैदा करेगी और उसीसे तुम्हारे कुलका नाश हो जाएगा। मुनियोंकी यह बात सुनकर वे यादव-बालक बहुत ही भयभीत हो गए। उन्होंने तुरन्त ही साम्बका पेट खोलकर देखा तो उसमें सचमुच लोहेका एक मूसल मिला।

तब वे बालक कहने लगे — हम लोग बड़े अभागे हैं देखो तो हम लोगोंने यह क्या अनर्थ कर डाला ? अब लोग हमें क्या कहेंगे ? वे सब बालक बहुत ही घबरा गए और मूसल लेकर अपनी राजधानीमें गए। परीक्षित, उस समय उनका चेहरा फीका पड़ गया था। मुँह सूख गया था। उन्होंने भरी सभामें सब यादवोंके सामने वह मूसल ले जाकर रख दिया और महाराज उग्रसेनको बीती घटना शुरूसे अंत तक कह सुनाई। राजन, जब सब लोगोंने ब्राह्मणोंके श्रापकी बात सुनी और अपनी आँखोंसे उस मूसलको देखा, तो सबके सब द्वारकावासी विस्मित और भयभीत-से हो गए। क्योंकि वे जानते थे कि श्राप कभी झूठा नहीं होता। यदुराज उग्रसेनने उस मूसलको चूर-चूर करा डाला। उस चूरे तथा लोहेके बचे हुए छोटे टुकड़ोंको समुद्रमें फेंकवा दिया। इसके सम्बन्धमें यादवों तथा राजा उग्रसेनने भगवान श्रीकृष्णसे कोई सलाह नहीं ली।

परीक्षित, उस लोहेके टुकड़ेको एक मछली निगल गई और चूरा लहरोंके साथ मिलकर समुद्रके किनारे आ लगा। वह थोड़े दिनोंमें 'एरक' (बिना गाँठवाली एक लता) के रूपमें उग आया। मछुओंने मछलियोंके साथ उस मछलीको भी पकड़ लिया, जो उस लोहेके टुकड़ेको निगल गई थी। उस टुकड़ेको निकालकर जरा नामक व्याघने अपने बाणकी नोंकपर लगा लिया। भगवानसे कोई बात छिपी नहीं थी। वे सब कुछ जानते थे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि वे इस श्रापको उलट भी सकते थे, फिर भी उन्होंने ऐसा करना उचित नहीं समझा। भगवान श्रीकृष्ण उस समय द्वारकामें काल-रूपसे ही निवास कर रहे थे। इसलिए उन्होंने ब्राह्मणोंके श्रापका अनुमोदन ही किया।

* * *

सरदार वल्लभभाई पटेल

*

राष्ट्र निर्माताओंमें सरदार वल्लभभाई पटेलका नाम स्वर्णांकित है। महात्मा गांधीने भारतकी स्वाधीनताके निमित्त जिस अहिंसात्मक संग्रामका प्रारम्भ किया, उसे व्यापक बनाने तथा एक संगठित रूप देनेमें सरदार पटेल अग्रगण्य हैं। वे बड़े दृढ़ निश्चयी और दृढ़ प्रतिज्ञ थे। बड़ी-से-बड़ी राजनीतिक समस्याओंके सुलझानेमें उनकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी। साहस, शौर्य और हिम्मतके वे एक ज्वलंत और मूर्तिमान स्वरूप थे और इसीलिए उन्हें 'लौह पुरुष' की संज्ञा दी गई थी। महात्माजीको जब कभी भी अपने आन्दोलनके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी कठिनाईका अनुभव होता, तो सरदार पटेल अपने बुद्धि-कौशलसे उसे दूर करनेमें उनके सहायकका कार्य करते थे। सरदार बड़े दबंग और स्पष्ट वक्ता थे। आन्दोलनके युगमें उनका व्याख्यान सुननेके लिए लाखो नर-नारी एकत्रित होते थे। उनके ओजपूर्ण व्याख्यानोंने स्वाधीनता-संग्रामकी अग्निको प्रज्वलित करनेमें घृतका कार्य किया। वे भारतीय संस्कृतिके पुजारी और भारतीय आचार-विचारके जागृत और निष्ठावान स्वरूप थे। मुझे उनके सान्निध्यका सौभाग्य प्राप्त होता रहा। मैंने उन्हें बहुत पाससे देखा, समझा और पहचाना था। पश्चिमी रंगसे वह कोसों दूर थे। उनकी

इच्छा था कि स्वतंत्र भारत पूर्णरूपसे भारतीय भावनाओं और परम्पराओंसे समन्वित हो। यह उनके जीवनका एक सच्चा स्वप्न था। वे जब तक जीवित रहे भारतीय आदर्शों तथा उद्देश्योंकी पूर्तिमें संलग्न रहे। त्याग, तपस्या तथा बलिदानकी भावनासे उनका जीवन ओतप्रोत था। कांग्रेसके तो वे एक प्रमुख स्तम्भ थे ही, किन्तु भारतीय संस्कृति और राष्ट्रभाषा हिन्दीके भी वे प्रबल समर्थक थे। भारतीय-संविधान-परिषदमें राष्ट्रभाषा सम्बन्धी उनकी आंतरिक नीतिका अहिन्दी भाषा-भाषी सदस्योंपर बड़ी गहराईसे प्रभाव पड़ा था। उनका विचार था कि स्वतन्त्र भारतकी अपनी एक राष्ट्रभाषा होनी ही चाहिए। हिन्दीके वे समर्थक और पक्षपाती थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

सच तो यह है कि आधुनिक राजनीतिको रूप देनेमें सरदार वल्लभभाई पटेलका गहरा हाथ रहा है। १५ अगस्त १९४७ से कुछ पहले और फिर पीछे जिस रीतिसे उन्होंने देशी राज्योंकी उलझी हुई गुत्थीको सुलझाया है, वह तो चमत्कारिक है। ब्रिटिश गवर्नमेंटने भारतसे हटनेकी घोषणा करनेकी अपनी इस गूढ़ व्यवस्थासे कि "देशी राज्य अब स्वतन्त्र हैं और यह उनकी इच्छापर निर्भर है कि वे भारतीय शासनसे अपनेको सम्बद्ध करें या न करें।" हमारे देशके नए शासनको बलहीन बनानेकी योजना की थी। देशी राज्योंके सम्बन्धमें ब्रिटिश गवर्नमेंट जिस सार्वदेशिक अधिनायकत्वके सिद्धान्तको बरतती थी, उसके बरतनेसे उसने भारतकी नई गवर्नमेंटको रोकना चाहा और स्पष्ट शब्दोंमें देशके लगभग ५६० देशी राज्योंको अपने-अपने मार्ग स्थिर करनेकी स्वतन्त्रता दी। इसका अर्थ यह था कि यदि देशी राज्य एक-एक या सब-मिलकर भारतीय गवर्नमेंटसे अलग और उसके विरुद्ध अपना राज्यतन्त्र खड़ा करना चाहते तो ब्रिटिश गवर्नमेंटके बताए विधानके अनुसार कर सकते थे। ऐसी स्थितिमें हमारे देशमें सैकड़ों स्वतन्त्र राज्यतंत्र बन सकते थे, जो आपसकी होड़से देशको निर्बल करते।

जिस चतुरता, दृढ़ता और तत्परतासे सरदार वल्लभभाई पटेलने ब्रिटिश गवर्नमेंटकी इस कूटनीतिको निष्फल किया और द्रुत वेगसे देशी राज्योंको कोई विरोधी तन्त्र बनानेसे रोककर उन्हें भारतीय प्रजातन्त्रमें मिलाया, यह

एक जादूका सी कहानी है। सरदार पटेलमें यह विशेषता रही है कि आधुनिक राजनीतिक प्रगतियोंका, हाथमें धरी ब्रतकी तरह, प्रयोग करते हुए वे देशकी सांस्कृतिक मर्यादासे शक्ति संचय करते थे और उसके आधारपर अपनी राजनीतिके निर्माणका यत्न करते थे।

प्रत्येक शासनतन्त्र बहुत पृथकगामी शक्तियोंके संघर्षोंका परिणाम होता है। हमारे देशमें भी कई प्रकारकी शक्तियाँ काम कर रही हैं, जिनमें कई ऐसी हैं, जिन्हें देशकी संस्कृतिका उचित ध्यान नहीं है और जिनमें गहरे और स्थायी विचारोंकी दरिद्रता है। इन शक्तियोंकी प्रवृत्ति देशको निर्बल करनेकी ओर हो रही है। इसीलिए यह आवश्यक है कि शासन-तन्त्रमें ऐसे दृढ़ और बुद्धिमान व्यक्तियोंका हाथ हो, जो प्राचीन और अर्वाचीनका समन्वय कर शासनको स्थायी विचारोंकी नीतिपर चला सकें, और संसारकी होड़में भारतका गौरव रख सकें। सरदार पटेलमें इस प्रकारके शासनतन्त्रको रचनेकी प्रवृत्ति और अद्भुत शक्ति थी।

* * *

स्वामी विवेकानन्द

*

भारतमें समय-समयपर ऐसे महात्मा, महापुरुष, ज्ञानी और संत जन्म लेते रहे हैं, जिन्होंने अपना सारा जीवन देश और समाजकी भलाईमें लगा दिया। स्वामी विवेकानन्दकी गिनती भी ऐसे ही महापुरुषोंमें होती है। उन्नीसवीं सदीका आखिरी दौर इस देशके लिए राष्ट्रीय और सामाजिक उथल-पुथलका था। स्वामी विवेकानन्दने ऐसे ही कठिन समयमें भारतीयोंका मार्ग-प्रदर्शन किया था।

स्वामी विवेकानन्दका जन्म १२ जनवरी सन् १८६३ ई. में कलकत्ता शहरके उत्तरी हिस्सेमें सिमुलिया नामके मुहल्लेमें हुआ था। इनका असली नाम नरेन्द्रनाथ था। इनके पिता श्री विश्वनाथ दत्त साधारण वकील थे। माता श्रीमती भुवनेश्वरीदेवी बड़ी सीधी-सादी और भक्त महिला थीं।

बचपनसे ही नरेन्द्रकी बुद्धि बड़ी तेज थी। साथ ही वह बड़ा नटखट और खिलाड़ी भी था। देखते-देखते उसने मैट्रिक, एफ. ए. और बी. ए. की परीक्षाएँ भी पास कर लीं। उसी समय पिताका स्वर्गवास हो गया। घरका सारा भार नरेन्द्रके कन्धोंपर आ पड़ा। गृहस्थी चलानेके लिए कलकत्ताके विद्यासागर कालेजमें वह अध्यापकका काम करने लगा।

संयोगसे युवक नरेन्द्रकी भेंट बंगालके प्रसिद्ध त्यागी सन्त श्री रामकृष्ण परमहंससे हो गई। वह प्राय. स्वामीजीके पास जाने और उनसे उपदेश ग्रहण करने लगा। स्वामी रामकृष्ण परमहंसको युवक नरेन्द्रमें कुछ ईश्वरी प्रतिभा दिखाई दी। उन्हें ऐसा लगा कि इसके द्वारा देश और समाजका कल्याण अवश्य होगा। स्वामीजीके उपदेशोंका युवक नरेन्द्रके हृदयपर गहरा असर पड़ा उसने आजन्म ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा की। स्वामीजीने नरेन्द्रनाथको अपना शिष्य बना लिया और उसे सन्यासकी दीक्षा दे दी। उसका नाम नरेन्द्रसे विवेकानन्द हो गया।

सन् १८९० ई. में स्वामी विवेकानन्दने भारतके सभी प्रसिद्ध शहरों और स्थानोंकी पैदल तथा सवारीसे यात्रा की। उन्ही दिनों अमरीकाके शिकागो नगरमे संसारके सभी धर्मोंके नेता इकट्ठा हो रहे थे। स्वामीजीने भारतकी पुरानी संस्कृतिके प्रचारके लिए यह सुनहला अवसर देखा। वे सर्व-धर्म-सम्मेलनमे शामिल होनेके लिए सन् १८९३ ई. मे अमरीका रवाना हुए। सम्मेलनमे स्वामीजीके कई व्याख्यान हुए। विदेशी नेताओंपर आपके व्याख्यानोंका गहरा प्रभाव पड़ा। वे वहाँसे इंगलैण्ड, फ्रान्स और जर्मनी भी गए। सभी देशोंके विद्वानोंने आपका बड़ा सम्मान और आदर किया। स्वामीजीने तीन साल तक अमरीका और योरपका भ्रमण करके वहाँके रहनेवालोंको यह सन्देश दिया कि भारत सदासे विश्व-शान्तिका पुजारी रहा है। मानवताकी उन्नति और रक्षा उसका मुख्य आदर्श है।

स्वामी विवेकानन्दने ७० साल पहले भारतके रहनेवालोंको सन्देश दिया था कि राष्ट्र और समाजको जिन्दा रखनेके लिए चरित्र-बल, त्याग और सेवाकी आवश्यकता है। भारतका राष्ट्रीय गौरव हजारों वर्षोंसे ऊँचा रहा है। उस गौरवकी रक्षा करने ही से सच्ची राष्ट्रीयता कायम रह सकती है। हर-एकको अपना मित्र और भाई समझना, दरिद्रनारायणकी सेवा करना, मेल-मिलापको बढ़ाना, विदेशियोंकी गुलामीके बन्धनसे भारतको स्वतन्त्र बनाना, सही अर्थमें समाज और देशकी सच्ची सेवा है।

स्वामी विवेकानन्द हमारे देशके उन महापुरुषोंमे थे, जिन्होंने भारतकी कीर्ति और बड़ाई ऐसे समयमें संसारमे फैलाई थी, जिस समय यहाँ अँग्रेजी

राज्यका दबदबा था। विदेशियोंमें भारतके प्रति अच्छी धारणा नहीं थी; किन्तु स्वामी विवेकानन्दने भारतकी संस्कृतिकी पुरानी पुस्तकें वेद-वेदान्त और दर्शनके उपदेशों द्वारा उनकी धारणा बदल दी। विदेशोंके कई विद्वान स्वामीजीके भक्त और शिष्य भी हो गए। भारतमें तो उनके व्याख्यानों और उपदेशोंने एक नई जिन्दगी और हलचल उत्पन्न कर दी। लोग अपनेपनके साथ-साथ राष्ट्रीय गौरवका भी अनुभव करने लगे। देशभक्तिकी लहर चारों ओर दौड़ने लगी।

लेकिन भारत तथा मानव जातिका दुर्भाग्य, स्वामी विवेकानन्द अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सके। केवल ४० वर्षकी छोटी आयुमें ,४ जुलाई सन् १९०२ ई. को उनका स्वर्गवास हो गया। फ्रान्सके प्रसिद्ध विचारक रोम्या रोलाने स्वामीजीके जीवनपर प्रकाश डालते हुए ठीक ही लिखा था :— "स्वामी विवेकानन्दने भारतमें जिस बीजको बोया था—गांधी, रवीन्द्र और अरविन्द—उसीकी देन है।" यह सच है – – – भारत आज स्वतन्त्र है।

* * *

लोक-कल्याणकारी राज्य

✱

आज सारी दुनियामें संघर्षकी लहरें व्याप्त हो रही हैं। चाहे बड़ा राज्य हो और चाहे छोटा, सभीके सिरपर किसी-न-किसी प्रकारके अशांतिके बादल मंडरा रहे हैं। जो राज्य जनतन्त्रकी दृष्टिसे स्वतन्त्र कहे जाते हैं, वहाँ तो किसी कदर कम, किन्तु जो तानाशाहीके शिकार हैं, वहाँ तो खुलेआम अराजकताका बोलबाला है। हिंसक भावनाएँ और वृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। मानवतापर विजय पानेके लिए शक्तियोंकी आपसी होड़ लगी हुई है। राज्योंमें उलट फेर हो रहा है। मानवजाति लोक-कल्याणकी भावनाओंसे ओतप्रोत वातावरणमें उन्मुक्त होकर साँस लेनेके लिए उतावली हो रही है। मानव-मात्र यह अनुभव कर रहा है कि लोक-कल्याण ही मानवताका वास्तविक प्रतीक है और लोक-कल्याणकारी राज्यमें ही मानवताकी रक्षा हो सकती है।

लोक-कल्याणकारी राज्यका क्या अर्थ है? लोकका अर्थ है जनता। अर्थात् ऐसा राज्य जहाँ जनताका कल्याण हो। जिस राज्यमें जनताके हितोंका ध्यान रखकर शासन हो, वही लोक-कल्याणकारी राज्य कहा जाता है। जहाँ जनता यह अनुभव करे कि शासनसूत्र उसीके प्रतिनिधियोंके हाथोंमें है, और उसके हितोंकी भली-भाँति सुरक्षा हो रही है, वही राज्य कल्याणकारी है।

जहाँ समानताका वातावरण हो और मानवको मानवसे न घृणा हो और न द्वेषभाव। जहाँ न ऊँच हो न नीच। ऊपर वाले नीचेकी ओर और नीचेवाले ऊपरकी ओर इस प्रकार सद्भावनासे बढे और मिलें जहाँ दोनोका सामंजस्य: संतुलन और मेल हो। जहाँ आर्थिक दृष्टिसे जीवनमें एक-दूसरेके प्रति शिकायत न हो। धनी और निर्धनताका विभेद मिट जाए। जहाँ सामाजिक एकरूपता हो और स्त्री-पुरुषोंके समान अधिकारोंकी एक भावना। पूँजी और श्रमका सन्तुलन हो। जहाँ प्रत्येकको, मानवमात्रको, जीवनमें आगे बढ़ने तथा उन्नति करनेका समान अवसर प्राप्त हो। जहाँ विचार स्वतन्त्रताकी कीमत समझी जाए और उस संस्कृतिका प्रचलन हो जिसका आदर्श और उद्देश्य मानवताका उत्थान, उत्कर्ष और कल्याणकारी हो, वही राज्य लोक-कल्याणकारी राज्य कहलानेका अधिकारी है।

इसी प्रकारके लोक-कल्याणकारी राज्योंकी एक सामूहिक कल्पना सारे संसारमें फैल रही है। जिसकी भावना है कि दबे हुएको दबाया न जाए; सचमुच जो जरूरतमंद हैं, उनकी जरूरतें पूरी हों; जो गिरे हुए हैं, चाहे उसका कारण कुछ भी हो, वह ऊपर उठें और मानव तथा मानवके बीच जन्मसे मरण तक जो विभेद उत्पन्न हो गया है, वह दूर किया जाए। मध्यमवर्गीय और ग्रामीण समुदायका मानव लोक-कल्याणके आदर्शोंकी ओर दिन-प्रति-दिन संघर्ष करता हुआ सफलताकी ओर अग्रसर हो रहा है।

एक बार गांधीजीसे किसीने एक प्रश्न किया कि लोक-कल्याणकारी राज्यकी क्या परिभाषा है ? या आपकी कल्पनाका लोकराज्य अथवा स्वराज्य क्या है ? गांधीजीने उत्तर दिया—"अगर कभी इस दुनियामें रामराज्य-जैसी कोई चीज थी, तो उसकी स्थापना आज भी सम्भव होनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि रामराज्य था। राम यानी पंच, पंच यानी परमेश्वर। पंच यानी लोकमत। स्वराज्य, धर्मराज्य, रामराज्य और लोकराज्यकी मेरी कल्पना एक है। वहाँ अमीर और गरीबके जीवनमें एक उचित साम्य होगा। इन्सान, इन्सानका मित्र होगा, हरएक एक-दूसरेके सुख-दुखमें काम आएगा। प्रत्येक एक-दूसरेकी मदद करेगा। मालिक और मजदूरके बीच एक सन्तुलन होगा, अपनी-अपनी जरूरतें पूरी करके प्रत्येकको सन्तोष ग्रहण करना पड़ेगा। मेरी कल्पनाका यही स्वराज्य और लोकराज्य है।"

महात्मा गांधीके त्याग तपस्या और बलिदानसे भारत स्वतन्त्र हुआ हिंसासे नहीं अहिंसाके द्वारा। अंग्रेज भारत छोड़कर चले गए। आज संसार गणतन्त्र राज्योंमें भारत भी अपना उच्चस्थान रखता है। सन १९५० भारतीय संविधानके अनुसार गणतन्त्रकी घोषणा हुई। भारतके इस संविधानका आदर्श लोक-कल्याणकारी राज्यकी स्थापना ही है। गांधीजीने जिस लोक-राज्यकी कल्पना की थी, उसकी पूर्तिके लिए पिछले अनेक वर्षोंसे कार्य हो रहा है, कुछ अंशोंमे सफलता भी प्राप्त हुई है।

भारतीय संविधान भाग ४, धारा ३८ मे राज्यकी नीति इस प्रकार निर्धारित की गई है :—

"राज्य ऐसी सामाजिक अवस्था की, जिसमे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवनकी सभी संस्थाओंको अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक रूपमे स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याणकी उन्नतिका प्रयास करेगी। (लोक-कल्याणकी उन्नतिके हेतु राज्य सामाजिक व्यवस्था बनाएगा)। धारा ३९ के अनुसार राज्य अपनी नीतिका, विशेषतया ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूपसे :—

(क) समान रूपसे नर-नारी-सभी नागरिकोंको जीविकाके पर्याप्त साधन प्राप्त करनेका अधिकार हो।

(ख) समुदायकी भौतिक सम्पत्तिका स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे सामूहिक हितका सर्वोत्तम रूपसे साधन हो।

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन-साधनोंका सर्वसाधारणके लिए अहितकारी केन्द्रण न हो।

(घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनोका, समान कार्यके लिए समान वेतन हो, आदि।"

भारतीय संविधानकी उक्त धाराओंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसका भावी लक्ष्य लोक-कल्याणकारी राज्यकी स्थापना ही है। ऐसा लोक-कल्याण जिससे जनता अधिक-से-अधिक सुखी हो और जीवनयापनमें उसे सहायता प्राप्त हो। सच तो यह है कि पिछले डेढ़ सौ वर्षोमें विदेशियोंकी गुलामीसे देशकी सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितिका जिस प्रकार पराभव हुआ है, उसका पुनरुद्धार इतने थोड़े अर्सेमें कैसे हो सकता है?

उसकी पूर्ति तो धीरे-ही-धीरे, धैर्यसे और सक्रिय कार्यों द्वारा ही होगी। स्वाधीनता प्राप्तिके बादसे लोक-कल्याणकी दृष्टिसे देशमें कई क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, विशेषकर ग्रामीण जनता तथा किसानोंके लिए। जमीन्दारी उन्मूलनसे किसानोंको, जमीन्दारोंके संघर्षसे मुक्ति प्राप्त हुई। सारे देशमें राजा और जमीन्दार नामका वर्ग साधारण जीवनके मानवके साथ मिल गया है। अब न कोई राजा है, न प्रजा। जनतन्त्रके अनुसार भारतीय जनताको विभिन्न परिस्थितियोंमें समान अधिकार प्राप्त है। देशकी आर्थिक स्थितिको अधिक-से-अधिक दृढ़ और मजबूत बनानेके लिए बड़े-से-बड़े कारखाने खोले गए हैं और अब रेलके डिब्बे, साइकिल, मोटर आदि ऐसी-ऐसी वस्तुओंका निर्माण हो रहा है, जिससे देशका करोड़ों रुपया विदेशोंमें जाना बन्द हो गया है। बड़े व्यवसाय ही नहीं कुटीर उद्योगोंका भी अधिक-से-अधिक और प्रचलन किया जा रहा है। आज दैनिक जीवनमें प्रतिदिन काम आनेवाली कितनी उपयोगी चीजें बाजारोंमें बिक रही हैं और भारतीय जनता उससे लाभ उठा रही है। किसानों, श्रमिकों और बेरोजगारोंके लिए ऐसे उपाय किए जा रहे हैं, जिससे उनकी आर्थिक समस्याका सुलझाव हो। आर्थिक और सामाजिक विषमताका निराकरण हो। इस प्रकार राष्ट्र अनेक दृष्टिसे लोक-कल्याणकारी राज्यके आदर्शकी ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

जहाँ एक ओर विधान तथा शासन यंत्र द्वारा राष्ट्रीय गौरवकी वृद्धि हो रही है, वहाँ दूसरी ओर महात्मा गांधीके अनुयायी आचार्य विनोबा अपने भूदान, श्रमदान और सम्पत्तिदान आन्दोलनोंके द्वारा मध्य वर्ग तथा ग्रामीणोंके आर्थिक सन्तुलनमें योगदान दे रहे हैं। आचार्य विनोबाको अपने कार्यमें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। हजारों एकड़ जमीन भूदान द्वारा न जाने कितने बिना भूमिके किसानोंमें वितरित की गई है। सन्त विनोबाका यह कार्य एक नैतिक स्तरपर हो रहा है। भारतीय जनताका इस ओर विशेष आकर्षण है। आचार्य विनोबाकी पदयात्रा भूदान आन्दोलनको व्यापक बना रही है। भारतीय संस्कृतिके पुनरुद्धारमें आचार्य विनोबाकी यह देन इतिहासमें सदा अमर रहेगी। इस प्रकार आचार्य विनोबाके आन्दोलन और कार्योंका लक्ष्य एक लोक-कल्याणकारी राज्यकी स्थापना है। आचार्य विनोबा भारतमें विदेशीपनको अलग

करनेके इच्छुक हैं। आचार्य विनोबा समझते हैं कि भारतको पश्चिमकी नकल नहीं करनी चाहिए। अपना स्वयंका आदर्श ही इतना ऊँचा है कि केवल उसीकी रक्षासे राष्ट्रका भावी कल्याण बहुत अंशोंमें सफल हो सकता है।

लोक-कल्याणकी भावनासे सरकार और आचार्य विनोबाके योगसे जो कार्य हो रहा है, वह राष्ट्रके लिए कल्याणकर तो है ही, साथ ही उस भविष्यकी सूचना देता है, जिसका आदर्श है सामाजिक समानता, जहाँ मध्यम वर्ग और ग्रामीणोंकी स्थिति दृढ होगी और आजकी सामाजिक तथा आर्थिक विषमतासे उन्हें मुक्ति मिलेगी।

लोक-कल्याणकी यह भावना पश्चिमी देशोंमें भी व्यापक रूपसे फैल रही है। वहाँ भी लोक-कल्याणकारी विचारधारा प्रगतिपर है। भारतीय आदर्श आज उनके भी सामने हैं। पश्चिमी देशोंकी जनता भी लोक-कल्याणकारी राज्यसे ही अपने उद्धारका अनुभव कर रही है।

* * *

कुटीरका पुष्प

भाग्यवान हूँ इस ही में यह
विजन कुटीर करूँ सुरभित।
नहीं तनिक इच्छा मुझको,
मधुकर मंडित आरामोंकी।
दुर्लभ अंग, स्वल्प सौरभ,
मम कामस्थल यह कोना है।
इसे सजाऊँ इसे रिझाऊँ
केवल यही कामना है।
यही लालसा हियमें इसका
इक दिन विघ गलहार बनूं।
अपना सब सौरभ समाप्त कर,
रज-कनमें बस बास करूँ।

संवत् १९७०

* * *

बन्दर सभा-[1]

(तीन चुटकिन माँ)

पहली चुटकी

एक बात अद्भुत हम कहही, यारो सुनियो कान लगाय।
इतने दिन वहिका भा बीते, अता पता कोउ सकै न पाय ॥१॥
कलियुग द्वापर त्रेता सतयुग इन सबसे पहिले की बात ॥
भए न ईश पैगम्बर देवा और रही नहिं जात अरु पाँत ॥२॥
लाख लाख जोजन कै बसती बनें बहुत बड़वार मकान ॥
बड़े बड़े ऊँचे तरु जामे टीले विकट पहाड़ महान ॥३॥
यही पेड़ टीलन कै चोटी बसत रहे बन्दर बलवान ॥
नाम देश कै गढ़ बन्दर औ मल्लू था राजा कै नाम ॥४॥
सारा देश उजाड़ परा रह दीखत कछू न कहूँ निसान ॥
ऊँची चोटी थलन माँहि बस बनी इमारत आलीसान ॥५॥
इनहि घरन के बीच बीच महँ लम्बे लम्बे बाँस दिखाय ॥
वाही ऊपर हवा खान को घूमन सिगरे बन्दर जाँय ॥६॥
घर में टेबुल मेज सजै हैं, उन पै चुने अनेक गिलास ॥
तामे टूटे फूटे बहुत हैं और धरी बोतल हैं पास ॥७॥
भाँत भाँत सज्ज धज के कमरे तितिर बितिर पै सबै समान ॥
यहि ते एक निमिख में जानो यहाँ बसैं बन्दर बलवान ॥८॥
चिलमन परदे रंग ढंग के खिंचे द्वार द्वार के बीच ॥
फटे चिथे पै बहुत ठौर वे देत गवाही आदत नीच ॥९॥
यक मैदान म भारी तखता वापै चुनी रकाबी पास ॥
कुर्सिन पै बहु बानर बैठे कलछिन लै लै खावैं माँस ॥१०॥

---

१. पूज्य राजर्षि टंडनजीने यह लोकप्रिय और व्यंग कविता १९०५ दिल्लीमें होनेवाले राज-दरबारको दृष्टिमें रखकर लिखी थी। उस सम[य] यह रचना स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्टजी द्वारा संपादित 'हिन्दी-प्रदीप' में २४ जुलाई सन् १९०५ के अंकमें प्रकाशित हुई थी—संपादक।

यह कौतुक अचरज हम देखा, पूछा एक बानर से जाय।
बोला बानर सुनो विदेसी, यह सब केवल मांसे खाय ॥११॥
घासौ पत्ती खाय लेत हैं, कबहूँ लोहू करैं अहार।
बानर मिलै वहू का खावें, खान-पान को नहीं विचार।
यह बातें कोइ विरला समझै, यहं की लीला अपरम्पार ॥१२॥

दूसरी चुटकी

हियां की बातें हियनै रह गईं, अब आगे के सुनौ हवाल।
गढ़ बन्दर के देश बीच मां, पड़ा रहा एक खेत बिसाल ॥१३॥
सौ जोजन लम्बा अरु चौड़ा, अरबन बानर जायं समाय।
तामे बानर भये इकट्ठा, जौन बचे वे आवें धाय ॥१४॥
जब सगरा मैदनवां भरि गा, पूँछे टोपी लगी दिखाय।
सब के सब कुरसिन से उछले, हाथ पांव से ताल बजाय ॥१५॥
इतने में मल्लू-सा आये, बंदरी और मुसाहब साथ।
बंदरी बड़ी चटक चमकीली, थामे मल्लूसा को हाथ ॥१६॥
ओढ़े गउन लगाए टोपी, हीरे जड़े पांत के पांत।
मटकत आवत भाव दिखावत, आखिर मेहरारू की जात ॥१७॥
मल्लूसा झट कुर्सी चढ़िगे, धरी एक ऊँचे मस्तूल।
रानी भी दुम झाड़ बगल भई, सब बोले बातें निरमूल ॥१८॥

तीसरी चुटकी

सुनौ, मुसाहब सबै सभ्यगन, अरु राजे फौजी कप्तान।
न्याय धर्म उद्यम कौंसिल के, शस्त्र विदेश कार मेंबरान ॥१९॥
हम राजा इस गढ़ बन्दर के, कैसर किंग जार सुलतान।
हमरै हुकुम हियन पर चालै, जानो हमें ईस रहिमान ॥२०॥
आज बरस दिन फेर मिले हम, तुम्हें सुनावें निज करतूत।
कठपुतली सम प्रजा नचावें, फैलावें स्वारथ के दूत ॥२१॥
यह तुम सब तो जानत हइहौ, आपन एकै यही उसूल।
जौन भाँति से रुपया आवै, वो ही धर्म न्याय को मूल ॥२२॥

यही बात विदित संसारै, एक जात रहती यहि ठौर ।
जिन के दुम उन तनको नाहीं, हमरा लाल रंग उन और ॥२३
येही ते दुइ न्याय धर्म दुइ, दुहरी सगरी बात हमार ।
मुँह कुछ धरे पेट कुछ धारे, दगा कूट को करै अहार ।
येहू से जो काम न निकले, तो फिर कैद मार फिटकार ॥२४।
पांच बड्ड बड्ड आगन मां, देस भार की भई तकसीम ।
पहिले न्याय बनाया अचरज, पी अफीम सब नीम हकीम ॥२५॥
बणना करौ कहा यह कलको, रुपया असकैं खींचै पास ।
धनी दीन पण्डित अरु मूरख, सब ही फँस गये याके फाँस ॥२६॥
तेहि पर बेदुम के जे बानर, उनका अस कैं जकड़ा जाय ।
तनिकौ हांथ पांव फटकारैं, उन कैं थप्पड़ दिया लगाय ॥२७॥
यह तो बन्दर न्याय बखाना, एक और कुंजी है हांथ ।
न्याय वाय सबही के ऊपर, सबहि घुमावे अपने साथ ॥२८॥
ओकर नाम गुपुत राखेंगे, यह तो भीतर मन की बात ।
ऊपर हमरी खुली कचहरी, रुपया देत न्याय लै जात ॥२९॥
दूसर धर्म बड़ा फन्दा यह, जो जो हमसे करै विरोध ।
जहां ग्लास एक हमसे लेवै, आवै तुरतहि उन कहं बोध ॥३०॥
सबहि लड़ाई छूट जात है, लेकचर देन जांय सब भूल ।
झूठी दुमहु लगाय लेन हैं, औरहु बातैं करैं फजूल ॥३१॥
जूठहु खाय नहीं सकुचावैं, पूजहिं खर जो हमरा देव ।
खरही खर चिल्लात फिरत हैं, लेव स्वर्ग मुफते लै लेव ॥३२॥
बिना कसाले का बिहिस्त है, ऐसन अवसर फिर नहि आय ।
हमरो खर जो चढ़ा अकासा, सब कोउ पूँछ थाम चढ़ि जाय ॥३३॥
जो नहि मानै बात हमारी, ऊ बस सीधा नरकहि जाय ।
चार पाँव से चलन न पइहैं, दुइयै से घिसलावत जाय ॥३४॥
हुआं न कूदन कौ तरु मिलिहैं, और न मिलिहैं बंदरी संग ।
कपड़ौ चौथे का नहि मिलि हैं, नहीं घास मास कै रंग ॥३५॥
मरन बाद इन सुख कहं चाहौ, हमरी बात करौ विस्वास ।
पढ़नौ लिखनौ पूजन छांड़ौ, हमरे खर की धारौ आस ॥३६॥

यही भांत हम धरम चलावा, दूसर कँ सिखवन के काज।
धन स्त्री अरु मान लोभ दै, फांसा जेहि नहि सकता भाज॥
आपन देव एक रुपया पै, जाहे बाढे हमरा साज॥३७॥
तीसर उद्यम भाग गिनाऊँ, एकर केवल मनसा येह।
जितना धन अन पैदा होवै, सब ढोइ आवै हमरे गेह॥३८॥
जितनै बैंदुम के हैं बानर, उनका हरी हरी दिखलाय।
चूनी भूसी उन्हें फेंक दें, बढ़िया माल लेय गठियाय॥३९॥
यही भाग उद्यम का ऐसा, जेहि मा रचै किताबी जाल।
और देस कै बानर जेहि सै, नहि जाने हमरा अहवाल॥४०॥
ऊपर से यह परगट करहीं, सगरी परजा बड़ी अमीर।
लीन लंगोटी छीन छीन कै, हम जानहि वे फिरैं फकीर॥४१॥
मरें भूख से जाड़े से वा, हम से येहि से कछु नहि काम।
हम का खाली मिलैं रुपैया, हम घर बैठ करें आराम॥४२॥
चौथा बड़ा डिपार्टमेन्ट है, करैं बिदेसन को व्यवहार।
रीछ स्यार सूकर बसते जहं, हम सन जिनके हैं सरदार॥४३॥
कबहूँ आंख दांत दिखलावें, लें डराय बस काम निकाल।
कबहूँ नम्र होय सीख सुनावैं, रचै बात कै जाल कराल॥४४॥
ऐसे वैसे तो डर जावैं, वा फँस जावैं हमरे जाल।
जो भैं तनकु अकड़ने वाले, तिनके लिए अनेकन चाल॥४५॥
जासूसी में निपुण सिपाही, तब छूटें साधन को कार।
दगा झूठ विष मद मेहरारू, और छिपी तीखी तलवार॥४६॥
उते सरंजाम हैं पूरे, पै येहू जो खाली जांय।
पचवां भाग करैं तब हलचल, नये शस्त्र तबहीं दिखलांय॥४७॥
सबसे बड़ी शस्त्र की कौंसिल, यहै राज्य को हमरे मूल।
यहिकै बिगड़े सबै चातुरी, एकै छन में जावै भूल॥४८॥
याही तें जे लड़नेवाले, उनको हम बहु करते मान।
सबसे चूस रुपैया लावें, इनहीं को बस देते दान॥४९॥
बड़े वीर हमरे यह सैनिक, पहिले दुम से करें प्रहार।
दुम जो कटै भाज फिर जावैं, गढ़ में घुस करवैं ललकार॥५०॥

पत्थर की तलवार बनी हैं   मटकी की गोली बारूद ।
जहाँ चलै यह सन्य हमारी, और लगावै पकी कूद ॥५१॥
बिरवन पेड़न तुरतहि नासै, धूम मचावै लूटै माल ।
सीधे जीवन मारैं काटै, हमहूँ सुन हौंय निहाल ॥५२॥
अब हम लेकचर खतम करत हैं, बैठें अपनी कुरसी जाय ।
तबही ताली ऐसी बाजी, कानौं की चमड़ी उड़ि जाय ॥५३॥
फिर एक मोटा बानर बोला, धन्यवाद हम देयं पुकार ।
मल्लूसा को जिनकी परजा, जो धन राखैं औरन मार ।
जेहि में हम कहँ पालै पोखै, और बढ़ै हम कुल परिवार ॥५४॥
इतना कह वह बानर बैठा, सभा उठी भागी चहुँ ओर ।
मौहूँ आल्हा गावत भाग्यौं, जे जे सुमिन कीन्ह सँग मोर ॥५५॥

* * *

स्वतन्त्रता

(१)

हे स्वतन्त्रता प्यारी तू क्यों हमको इतना बिसर गई।
भारत छोड़ किधर को भागी हमको इकला छोड़ गई।
ईश्वरी पुत्री जगकी प्यारी गुणकी आगर कहाँ गई,
हाय हाय कह रोवें भारतवासी तेरा नाम लई।

(२)

जीवन फुलवारीका तू ही तो इक पुष्प सुगन्धित है,
तेरे बिन यह सूनसान है जग सुख सारा खण्डित है।
किसी भाँतिकी रोक टोक जब मानव चितपर रहती है,
नहीं काम कर सकता पूरा जिसमें तबियत लगती है।

(३)

विद्या बुद्धि शिल्प अरु सूनृत का कदापि नहिं बास यहाँ;
सबही गुण इक-इक कर भागें स्वतन्त्रता है नहीं जहाँ।
जैसा कि एक छोटा पौधा दबकर नहीं उभड़ता है,
वैसा ही यह चित्त मनुष्यका उठै नहीं जब गिरता है।

(४)

पर वे बीर सही हैं जो गिरकर भी नहिं हुए निरास,
कमर बाँध लड़नेपर तत्पर एक शस्त्र रख केवल आस।
प्रकृतिने यह ढंग रचा है जीव सभी होवें स्वाधीन,
उसकी देन सबहिको एकसां क्या धनाढ्य अरु क्या धनहीन।

(५)

हेमाचलके पर्वतपर अरु सहराके भी जंगलमें,
सबहि ठौर भोजन तो मिलता सबहि कटै सुख मंगलमें।
ईश्वरकी समस्त रचनामें ऐसा है स्थान नहीं,
जहाँ श्रमी उद्योगीको है जीवनका सामान नहीं।

(६)

अग्नि विपति अरु काल कहींपर कहीं दिखायी पड़ते है,
एक मूल उनकी अधीनता जिससे सबही डरते हैं।
एकहि भाँति मनुज हैं आए उसी भाँति वे जाते है,
समदर्शी निर्गुणके आगे सब समान दिखलाते है।

(७)

तब किसको अधिकार कहें यह हम धनाढ्य अरु धनहीन,
औरोंके कर्मोंको रोकै देन प्राकृतिक लेवें छीन।
क्या ही अद्भुत वस्तु मनुज भी श्रेष्ठ कहावै सृष्टी में।
पर भरे हुए औगुण इतने जो नहि देखे पशुओंमें।

(८)

नहीं कभी एक घोड़ा कहता मेरी मूल्यवान है जीन,
गर्व नहीं उसको यह होता मेरा चमड़ा है रंगीन।
यदि घमण्ड वह करता है तो केवल अपनी तेजीका,
पर हाय नीचता मनुष्यको कैसी अभिमानी धनसंपतिका।

(९)

एक एकके गुण नहि देखें ज्ञानवानका नहि आदर,
लड़ें कटें धन पृथ्वी छीनें जीव सतावे लेवें कर।
भई दशा भारतकी कैसी चहूँ ओर विपदा फैली,
तिमिर अज्ञान घोर है छाया स्वारथ साधनकी शैली।

(१०)

हा! वही भूमि यह भारत की जहं भये एक-से-एक सुधीर,
जहां कपिल, पातंजलि उपजे द्रोण और अर्जुन सम वीर।
जहाँ धर्ममें प्रौढ़ युधिष्ठिर, राम, वासुदेव, हरिश्चन्द्र,
व्यास वाल्मीकसे कितने जन्मे श्रेष्ठ कविनके वृन्द।

(११)

जहाँ भरत, गौतम शंकरने अद्भुत छटा दिखाई,
जहाँ भोज विक्रमके यशसे रही संपदा छाई।

हुई दशा है उसी भूमिकी हाय आज कैसी न्यारी,
विद्या गुण तो घटते जाते पर अभिमान रहा भारी।

(१२)

अपनी अपनी चाल-ढालको सब कोउ धर धर छप्पर पर,
चले ढुलकते बुरी प्रथापर जिसका कहीं पैर नहि सिर।
धनी दीनको दुःख अति देते हमदरदीका नाम नहीं,
धन मदिरा गनिकामें फूकें करें भला कुछ काम नहीं।

(१३)

कभी कभी संशोधक होनेका यदि किसीको आया ध्यान,
समझ लिया एक स्पीच झाड़ना है बस मेरा पूरा ज्ञान।
लोग नहीं उनको पतियाते सच पूछो तो बात यही,
देश उपकार करेगा वह क्या जिसका मन है विमल नहीं।

(१४)

ऐसी भूमिमें हे स्वतन्त्रते हो नहि सकता तेरा वास,
जहाँ कुटिल अरु नीच प्रकृति हो बने सभी स्वारथके दास।
तेरे रहनेको प्यारी उज्ज्वल हृदय भवन चहिए,
तो भी दशा देख भारतकी अब तो दया दृष्टि करिए।

(१५)

भरा स्वार्थसे हृदय हमारा दीजे हमको दान यही,
तेरी मूर्ति मोहनी प्यारी रहे सदा चित माँहि बसी।
जिसे देख देखकर मुझमें बल अरु साहस अधिक बढ़े,
कि तेरा गुण मैं जगमें गाऊँ जिसमें भारत कष्ट कढ़े।

(सन् १९०५ ई. 'हिन्दी प्रदीप' से)

* * *